अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 7 आषाढ़-श्रावण वि.सं. 2083 जुलाई, 2026 मूल्य : अठारह रुपये पृष्ठ-28 RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

वनस्पतियां बचाने की शिक्षा

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में पांच जून को पर्यावरण दिवस पर वे उत्साही लोग एकत्र हुए जो एसी कमरों में बैठ कर पर्यावरण की चिंता नहीं करते, बल्कि आसमान के नीचे धरती पर मिट्टी में बैठ कर वनस्पतियों की रक्षा और संरक्षण करते हैं।

प्रकृति से प्रेम करने वालों ने करीब दो घंटे तक समिति प्रांगण में जामुन के पेड़ के नीचे बैठ कर अपने अनुभव साझा किए और एक दूसरे से पौध संरक्षण के बारे में सीखा।

इस अवसर रखी गई चर्चा में पेड़ पौधों के संरक्षण में वर्षों से बिना प्रचार के अपने व्यक्तिगत प्रयासों से लगे राजेन्द्र सिंह, ज्ञान वशिष्ठ, कुलभूषण शर्मा, और त्रिवेंद्र सहाय शर्मा ने जो बातें कही वे अन्य प्रतिभागियों के लिये प्रेरणा देने वाली बनी। इसी प्रकार ग्रासरूट मीडिया फाउंडेशन के प्रमोद शर्मा के पौधों को पनपाने तथा उनकी देखभाल के अनुभव भी दूसरों को राह दिखाने वाले थे। कार्यक्रम के संयोजक वन सेवा के पूर्व अधिकारी देवेन्द्र भारद्वाज ने वनस्पति जगत की सामूहित एकात्मकता पर चर्चा की। उन्होंने समिति प्रांगण में अगले माह वृक्ष मेला लगाने का सुझाव दिया जिसे तुरंत सभी ने समर्थन दिया।

पर्यावरण संरक्षण के इस उत्सव में शामिल होने आए लोगों ने समिति में बनाए जा रहे 'नवग्रह वन' का भी अवलोकन किया जो सौर मण्डल के ग्रहों का प्रतिनिधित्व करने वाले वृक्षों के रोपण से बनेगा। महिला प्रतिभागियों ने मिल कर सूर्य का प्रतिनिधित्व करने वाले आकडे का पौधा रोप कर काम की विधिवत शुरुआत की। प्रस्तावित वृक्ष मेले के आयोजन से पहले यह 'नवग्रह वन' वन तैयार हो जाने की आस है। इस मौके पर फाइन आर्ट के उन छात्र छात्राओं का आभार व्यक्त किया गया जिन्होंने 'नवग्रह वन' की डिजाइन तथा रंग संयोजन में सहयोग दिया है।

पर्यावरण दिवस के आयोजन में शामिल होने वालों को पौधों के उपहार दिए गए। समिति के सचिव हिमांशु व्यास ने सभी का आभार व्यक्त किया। ❑

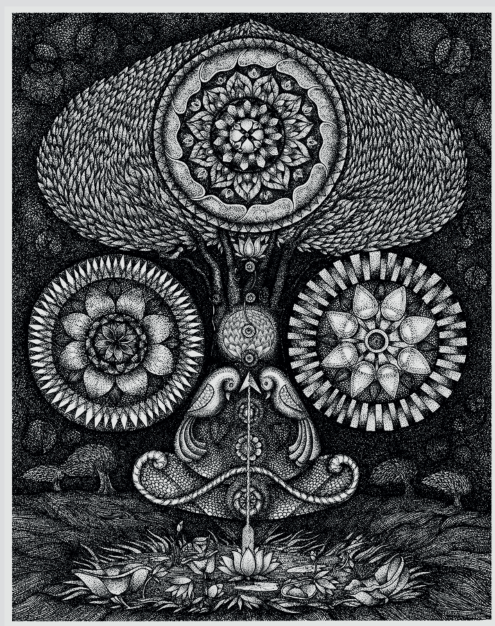

धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।

- जैन आगम का श्लोक

धर्म सबसे उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है। जिसके मन में सदा धर्म रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं!

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : 53 अंक : 7 आषाढ़-श्रावण वि.सं. 2083 जुलाई, 2026 मूल्य : अठारह रुपये

क्र म

वाणी

3. जैन आगम का श्लोक

संपादकीय

5. टेक्नोलॉजी, नैतिकता और न्याय

अभिमत

7. बहस करने वाले सुनना सीखें!
– शशि थरूर

9. नीट पेपर लीक : व्यवस्था की विफलता और पतन
– जॉन जे. केनेडी

11. स्वास्थ्य सेवा प्रणाली पतन के कगार पर
– पी.शेष कुमार

14. संगीत और चिकित्सा का गहरा संबंध
– डॉ. ए.सम्पथ कुमार

विमर्श

16. भावनात्मक अलगाव की स्वास्थ्य लागत
– प्रतीक्षा वत्स

अभिमत

18. मरीज को दवा से कहीं ज़्यादा सहानुभूति की ज़रूरत
– संजय चन्द्रा

20. ढ़ भारतीय शहर साइकिल के मामले में नाकाम !
– शालिनी सिंह

रपट

22. बुजुर्ग पेड़ों का आंचल : प्रकृति का साक्षात् स्पर्श
– अन्नपूर्णा शुक्ला

अनुभव

25. पढ़ाने के ज़रिए लोगों की ज़िंदगी को छूना
– वी.के. आनंद

अभिमत

26. शिक्षा का बजट परिणाम आधारित होना जरूरी

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7–ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र,
जयपुर–302004
फोन : 2700559, 2706709, 2707677
ई–मेल : raeajaipur@gmail.com
www.raea.in

संपादक :
राजेन्द्र बोड़ा
प्रबंध संपादक :
दिलीप शर्मा

संपादकीय

टेक्नोलॉजी, नैतिकता और न्याय

❑

आज भारत एक दिलचस्प मोड़ पर खड़ा है। हम हज़ारों साल पुरानी सभ्यता हैं, फिर भी आबादी के लिहाज़ से भारत दुनिया के सबसे युवा देशों में से एक हैं। यह धर्म और न्याय के पुरातन दर्शनों का घर हैं, फिर भी वह एक ऐसा आधुनिक सार्वजनिक डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर बना रहा है जिसे दुनिया तारीफ़ से देखती है। मगर परंपरा और बदलाव के बीच का यह मेल एक अहम सवाल भी खड़ा करता है कि जैसे-जैसे भारत टेक्नोलॉजी के ज़रिए बदल रहा है, क्या हम न्याय के करीब जा रहे हैं या उससे दूर होते जा रहे हैं? इसका जवाब देने के लिए, हमें पहले तीन आपस में गहरी जुड़ी चीजों को जरूर समझना होगा। वे हैं नैतिकता, टेक्नोलॉजी और न्याय। इन्हीं तीन चीजों को समाहित करते हुए पिछले दिनों 'सूरज संस्थान' ने 'कनोडिया स्कूल ऑफ लॉ फॉर वीमन' के साथ मिल कर राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति में एक अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी रखी थी।

यह स्पष्ट है कि टेक्नोलॉजी बदलाव की प्रेरक होती है और वह बदलाव लाने वाली सबसे साफ़ दिखने वाली ताकत भी होती है। पिछले एक दशक में यूपीआई भुगतान से लेकर आधार-आधारित पहचान प्रणालियों तक, व एआई-पावर्ड गवर्नेंस टूल्स से लेकर ऑनलाइन शिक्षा प्लेटफॉर्म तक, टेक्नोलॉजी ने हमारे जीने के, काम करने के और एक-दूसरे से जुड़ने के तरीके को पूरी तरह बदल दिया है।

किसी भी शहर में अब एक सब्ज़ी बेचने वाला, गोलगप्पे खिलाने वाला और रिक्शेवाला भी डिजिटल भुगतान ले रहा है। किसी दूर-दराज के गांव का एक छात्र ऑनलाइन क्लास में शामिल हो रहा है। कोई मरीज़ टेलीमेडिसिन के ज़रिए सैकड़ों किलोमीटर दूर बैठे डॉक्टर से सलाह ले रहा है। यह स्पष्ट है कि इस नई टेक्नोलॉजी में सभी तक पहुंच को आसान बनाने, काम में होने वाली कमियों को दूर करने और भौतिक दूरियों को पाटने की ताकत है।

टेक्नोलॉजी अपने आप में नैतिक नहीं होती। यह तटस्थ होती है। उसका असर इस बात पर निर्भर करता है कि हम इसे कैसे डिज़ाइन करते हैं, कैसे लागू करते हैं, और कैसे इसे नियंत्रित करते हैं। इसलिए नैतिकता वह दिशासूचक होती है जिसे हम नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते।

भारत की सनातन नैतिक परंपरा बहुत समृद्ध है। अहिंसा, धर्म (कर्तव्य) और सर्वोदय (सभी का कल्याण) जैसे विचार हमें सिखाते हैं कि तरक्की तभी सार्थक होती है जब वह सभी का भला करें। लेकिन डिजिटल युग में, नैतिकता से जुड़े सवाल और भी ज़्यादा पेचीदा होते जा रहे हैं। जैसे कि क्या कंपनियों को लोगों का बहुत सारा निजी डेटा इकट्ठा करके अपने पास रखना चाहिए? क्या एल्गोरिदम ऐसे फ़ैसले ले सकते हैं जिनका असर लोगों की ज़िंदगी पर पड़े, क्या एआई से लोन मंज़ूर करना या नौकरी के लिए लोगों को चुनना उचित है?

एक आसान सा उदाहरण लेते हैं। सुरक्षा के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला फ़ेशियल रिकग्निशन सिस्टम। यह सुरक्षा को बेहतर बना सकता है, लेकिन अगर यह किसी की पहचान गलत कर दे तो क्या होगा? अगर यह कुछ खास समुदायों को ही ज़्यादा निशाना बनाए तो क्या होगा? जब एआई सिस्टम से कोई गलती हो जाती है, तो उसके लिए ज़िम्मेदार कौन होगा? नैतिक निगरानी के अभाव में, तकनीक अनजाने में ही पूर्वाग्रहों को मज़बूत कर सकती है, असमानताओं को गहरा कर सकती है, और यहां तक कि मौलिक अधिकारों को भी नज़रंदाज़ कर सकती है। इसलिए, नैतिकता कोई विलासिता नहीं, बल्कि एक आवश्यकता है। इसलिये टेक्नोलॉजी, नैतिकता, और न्याय पर विमर्श के केंद्र में अंतिम लक्ष्य न्याय होना चाहिए।

न्याय का मतलब सिर्फ़ अदालतें और कानून नहीं होते है। न्याय का मतलब है निष्पक्षता, समानता और मानवीय गरिमा। इसका मतलब है यह सुनिश्चित करना कि हर नागरिक, चाहे उसकी पृष्ठभूमि कुछ भी हो, को अवसरों और अधिकारों तक समान पहुंच मिले। प्रौद्योगिकी में न्याय को शक्तिशाली तरीकों से आगे बढ़ाने की क्षमता जरूर होती है, जैसे सार्वजनिक सेवाओं तक लोगों की पहुंच। किन्तु प्रौद्योगिकी अन्याय के नए रूप भी पैदा कर सकती है। सवाल यह नहीं है कि क्या प्रौद्योगिकी न्याय की ओर ले जाती है, बल्कि सवाल यह है कि हम यह कैसे सुनिश्चित करें कि वह न्याय की तरफ ले जाए।

भारत का पुराना ज्ञान एक गहरी समझ देता है: यथा दृष्टि तथा सृष्टि अर्थात जैसी सोच, वैसी ही दुनिया। अगर टेक्नोलॉजी के बारे में हमारी सोच सिर्फ़ काम करने की तेज़ी, और मुनाफ़े पर टिकी है, तो हम शायद एक ऐसी दुनिया बना लेंगे जो तेज़ तो होगी, लेकिन उसमें सबके साथ बराबरी का बर्ताव नहीं होगा। लेकिन अगर हमारी सोच नैतिकता और न्याय से जुड़ी होगी, तो हम एक ऐसा समाज बना सकेंगे, जो न सिर्फ़ आगे बढ़ा हुआ होगा, बल्कि उसमें मानवीयता भी होगी। यह हम पर निर्भर करता है कि हम कैसा भविष्य चुनते हैं।

जैसे-जैसे भारत बदल रहा है, हम सिर्फ़ ढांचा ही नहीं बना रहे हैं, बल्कि हम खुद समाज के भविष्य को भी आकार दे रहे हैं। इसलिए असली चुनौती टेक्नोलॉजी से जुड़ी नहीं है, बल्कि नैतिकता से जुड़ी है। क्या हम टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल लोगों को ताकत देने के लिए करेंगे या उन्हें काबू में रखने के लिए करेंगे? क्या हम सबको साथ लेकर चलने को ज़्यादा अहमियत देंगे या काम करने की तेज़ी की तरफ हमारा झुकाव होगा? क्या हम ऐसे सिस्टम बनाएंगे जो सभी के काम आएं, या सिर्फ़ कुछ खास लोगों के? इन सवालों के जवाब ही यह तय करेंगे कि भारत का यह बदलाव न्याय की एक कहानी बनेगा, या अन्याय की।

टेक्नोलॉजी हमें ताकत देती है, नैतिकता हमें बताती है कि उस ताकत का इस्तेमाल कैसे करना है, और न्याय यह पक्का करता है कि उस ताकत का फ़ायदा सभी को मिले। ❑

बहस करने वाले सुनना सीखें!

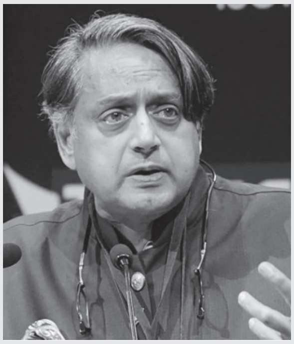

शशि थरूर

इंडियन एक्स्प्रेस में छपा विलक्षण तार्किक विद्वान का यह आलेख कुछ सोचने को बजबूर करता है।सं.

चीनी विद्वान केजीमाओ अपनी हालिया सोशल मीडिया पोस्ट में एक दिलचस्प कहानी बताते हैं। उन्होंने लिखा, मैंने दो प्रेजेंटेशन दिए कि चीन अपना इंडस्ट्रियल और टेक्नोलॉजिकल इकोसिस्टम कैसे बनाता है- एक भारतीय श्रोताओं के लिए और दूसरा वियतनामी श्रोताओं के लिए। हालांकि कंटेंट काफी हद तक एक जैसा था..., लेकिन वियतनामी और भारतीय प्रतिभागियों से मिली प्रतिक्रियाएं एकदम अलग थी। जब मैंने वियतनाम और चीन के बीच के अंतर पर चर्चा की, तो मेरे वियतनामी दोस्तों ने वियतनाम की कमियों पर मेरे विश्लेषण को बहुत ध्यान से सुना। उन्होंने खुद ही वियतनाम की कमियों को माना और मुझसे कुछ खास मुद्दों पर और विस्तार से विश्लेषण करने को कहा। लेकिन, जब मैंने चीन और भारत की तुलना की, तो कई भारतीय दोस्त काफी बहस करने लगे। उन्होंने लगभग हर बात पर चीनी नज़रिए का मुकाबला करने या उसे चुनौती देने की कोशिश की, यहां तक कि मैं अपना विश्लेषण ठीक से पूरा भी नहीं कर पाया। नतीजा यह हुआ कि वे बहस तो जीत गए, लेकिन उन्होंने एक सार्थक बातचीत का कीमती मौका गंवा दिया। उन्होंने कहा ''इसलिए, मुझे कई साल पहले ही पता चल गया था कि 'चीन से प्रतिस्पर्धा में असली विजेता कौन सा देश होगा।''

यह किस्सा बौद्धिक और कूटनीतिक हलकों में अक्सर देखी जाने वाली बात को ज़रूरी आईना दिखाता है। यह कनाडा के दिवंगत राजदूत डेविड मेलोन की उस बात को दोहराता है, जिसमें उन्होंने कहा था कि भारतीय कूटनीति की एक बड़ी कमी यह है कि इसके जानकार दोस्त बनाने के बजाय बहस जीतने में ज़्यादा माहिर होते हैं। यह सिर्फ़ हमारे राजनयिकों की आलोचना नहीं है; बल्कि यह हमारी व्यापक सांस्कृतिक प्रवृत्ति पर एक टिप्पणी है।

भारतीय इतिहास 'संवाद' की परंपरा से समृद्ध रहा है ˉ जो तर्क-वितर्क के ज़रिए चर्चा करने की कला है। प्राचीन भारतीय विचारक गहन बहस में विश्वास रखते थे, जहां मकसद किसी ऊंचे सच तक पहुंचने के लिए विरोधी के तर्क को काटना होता था। इस संदर्भ में, बहस को एक नेक काम और ज्ञान की कसौटी माना जाता था। आधुनिक दौर में, बहस के प्रति इस सांस्कृतिक झुकाव ने शायद एक दिखावटी मुकाबले का रूप ले लिया है। जब मकसद आपसी समझ से बदलकर जीत हो जाता है, तो संवाद की भावना खत्म हो जाती है। हम अक्सर बातचीत को आपसी संबंध बनाने के ज़रिया नहीं, बल्कि 'जीरो-सम गेम' के तौर पर देखते हैं, जिसमें किसी बात को मान लेने का मतलब बौद्धिक या राष्ट्रीय स्तर पर हार मान लेना समझा जाता है।

ऐतिहासिक नज़रिए से हटकर देखें तो इसकी एक आधुनिक मनोवैज्ञानिक

वजह भी है: एक गहरी, और अक्सर अवचेतन, रक्षात्मक असुरक्षा की भावना।

भारत एक ऐसा देश है जिसने सदियों तक औपनिवेशिक शासन के सदमे और उसके बाद वैश्विक मंच पर अपनी पहचान और ताकत साबित करने के संघर्ष का सामना किया है। इससे हमारे नज़रिए और हमारी स्थिति को सही साबित करने की एक ज़बरदस्त ज़रूरत पैदा होती है। पीढ़ियों से, भारतीय बुद्धिजीवियों को पश्चिमी आलोचनाओं के ख़िलाफ़ अपनी परंपराओं, इतिहास और आर्थिक क्षमता का बचाव करना पड़ा है। नतीजतन, मन में यह गहरी शंका बैठ गई है कि विदेशी विचार निष्पक्ष नहीं होते, बल्कि भू-राजनीतिक या सांस्कृतिक प्रभुत्व की बड़ी चाल का हिस्सा होते हैं। जब कोई बाहरी व्यक्ति, खासकर कोई ऐसा जो किसी प्रतिस्पर्धी ताकत या विकास के अलग मॉडल का प्रतिनिधित्व करता हो, आलोचना करता है, तो उसे अक्सर निष्पक्ष विश्लेषण के बजाय तुरंत हमले के तौर पर लिया जाता है। ऐसे में स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही होती है कि आलोचना को टाल दिया जाए, उसका जवाब दिया जाए और नैरेटिव (विमर्श) पर हावी हुआ जाए, ताकि देश की छवि और बात करने वाले के अहंकार की रक्षा की जा सके।

इसलिए, जब केजीमाओ जैसे चीनी विद्वान भारत के औद्योगिक इकोसिस्टम की आलोचना करते हैं, तो उसे निष्पक्ष सीख के तौर पर नहीं, बल्कि बेहतर चीन और हमारे बीच तुलनात्मक मूल्यांकन के एक डेटा पॉइंट के तौर पर देखा जाता है। भारतीय लोगों के मन में उनकी बातों को स्वीकार करने का मतलब खुद को कमतर मानना होता है। जैसे-जैसे भारत वैश्विक शक्ति के तौर पर अपनी जगह बनाने की कोशिश कर रहा है, एक गहरी बेचैनी भी है। हम चाहते हैं कि दुनिया हमें वैसे ही देखे जैसे हम खुद को देखते हैं, और जब हमें नकारात्मक नज़रिए से आंका जाए, तो हम सही बात सामने रख सकें।

यह सब समझ में आता है, लेकिन यह खुद को नुकसान पहुंचाने वाला है। जैसा कि कोजीमाओ ने सही कहा है, इस नज़रिए की विडंबना यह है कि भारतीय भले ही बहस जीत जाएं, लेकिन वे सार्थक बातचीत का मौका गंवा देते हैं। आज की ग्लोबल दुनिया में, जहां मिलकर समस्याएं सुलझाना ही प्रभाव जमाने का ज़रिया है, सबसे ऊंची आवाज़ में बोलने से अक्सर लीडरशिप के बजाय अकेलापन ही हाथ लगता है। जब हम बहस जीतने को प्राथमिकता देते हैं, तो हम असल में विकास के लिए ज़रूरी फीडबैक के रास्ते बंद कर देते हैं। वियतनामी लोगों ने माओ की बातों से काम की बातें सीखीं और उन्हें फ़ायदा हुआ। बचाव का रवैया अपनाना, भले ही उस पल में भावनात्मक रूप से संतोषजनक लगे, एक ऐसा बौद्धिक दायरा बना देता है जो रणनीतिक विकास की क्षमता को रोक देता है। यह अजीब बात है कि जो समाज पारंपरिक रूप से गुरु की समझदारी का सम्मान करता है, वह ऐसा व्यवहार करता है; किसी ऐसे कल्चर से यह उम्मीद की जाती है जो ज्ञान के आदान-प्रदान को महत्व देता हो, कि वह दुनिया भर की समझ को अपनाएगा। लेकिन जब कोई भारतीय किसी विदेशी से ‍या किसी ऐसे भारतीय साथी से जिसे वह व्यक्तिगत रूप से सम्मान नहीं देता, बातचीत करता है, तो गुरु-शिष्य परंपरा का पारंपरिक ऊंच-नीच वाला ढांचा काम नहीं करता। क्योंकि विदेशी व्यक्ति स्थापित परंपरा के अनुसार गुरु नहीं होता, इसलिए उसे अपने-आप सम्मान नहीं मिलता। इसके बजाय, विचारों के सेक्युलर बाज़ार में उसके साथ बराबरी या कॉम्पिटिटर जैसा व्यवहार किया जाता है, जहां सांस्कृतिक सोच सम्मान से बदलकर अस्वीकार करने की ओर चली जाती है।

इस आदत को बदलने के लिए बहस करने के भारतीय जुनून को छोड़ने की ज़रूरत नहीं है। इसके बजाय, बहस के मकसद को बचाव वाले रवैये से बदलकर रणनीतिक सोच की ओर ले जाने की ज़रूरत है।असली आत्मविश्वास की पहचान यह है कि आप बिना तुरंत खंडन किए, असहज करने वाली आलोचनाओं को भी स्वीकार कर सकें। अपने अहम को चुनौती मिलने और अपनी मान्यताओं को चुनौती मिलने के बीच फ़र्क करना सीखना एक परिपक्व रणनीतिक संस्कृति की पहचान है। कोई जवाबी तर्क देने से पहले, व्यक्ति खुद से पूछ सकता है, क्या यह जवाब मेरी समझ को बेहतर बनाता है या समस्या को हल करता है, या यह सिर्फ़ मेरी बात को सही साबित करने के लिए है?अगर भारत को 21वीं सदी के जटिल भू-राजनीतिक और आर्थिक हालात खासकर चीन+1 रणनीति जैसी पहलों में कामयाबी हासिल करनी है, तो हमें अपनी जीवंत बहस की परंपरा और व्यावहारिक खुलेपन के बीच तालमेल बिठाना होगा। आखिरकार, बहस जीतने से मिलने वाली क्षणिक संतुष्टि की तुलना में दोस्त बनाने और नई बातें सीखने की क्षमता हमारे देश की प्रगति के लिए कहीं ज़्यादा कीमती होती है। ❑

नीट पेपर लीक : व्यवस्था की विफलता और पतन

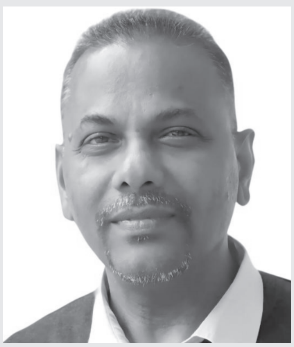

जॉन जे. केनेडी

बैंगलुरु स्थित क्राइस्ट यूनिवर्सिटी के कला और मानविकी विभाग के सेवानिवृत्त प्रोफेसर और पूर्व डीन, अपने इस आलेख में नीट पेपर लीक और उसकी परीक्षा के रद्द होने पर महत्वपूर्ण टिप्पणी कर रहे हैं। सं.

नीट-यूजी का रद्द होना और उसका वापस होना सिर्फ़ एक और प्रशासनिक शर्मिंदगी नहीं है। यह उस व्यवस्था का सरेआम पतन है जिसने निष्पक्षता और योग्यता-आधारित चयन का वादा किया था, लेकिन बदले में सिर्फ़ चिंता, असमानता और संस्थागत विफलता दी है। छात्रों ने इस परीक्षा में हिस्सा लिया था, इस भरोसे के साथ कि उनकी सालों की कुर्बानियों का मूल्यांकन आखिरकार एक विश्वसनीय राष्ट्रीय प्रक्रिया के ज़रिए किया जाएगा। इसके बजाय, सरकार को यह परीक्षा रद्द करने पर मजबूर होना पड़ा क्योंकि जांचकर्ताओं को असली प्रश्न पत्र और पैसे लेकर चलाए जा रहे व्हाट्सएप समूहों पर फैले एक गैस पेपर के बीच काफ़ी समानताएं मिलीं। इस परीक्षा का आयोजन करने वाली नेशनल टेस्टिंग एजेंसी ने खुद यह स्वीकार किया कि परीक्षा की पवित्रता पूरी तरह से भंग हो चुकी थी। यह स्वीकारोक्ति इसलिए मायने रखती है, क्योंकि अब यह मामला सिर्फ़ किसी आपराधिक साज़िश तक ही सीमित नहीं रह गया है। यह संस्थागत विश्वसनीयता के पतन का मामला है, और इस सवाल का भी कि क्या वह विश्वसनीयता कभी उतनी मज़बूत थी, जितना हमें बताया गया था।

नीट संकट ने भारत के अत्यधिक केंद्रीकृत परीक्षाओं के प्रति जुनून की खतरनाक कमज़ोरी को उजागर किया है। जिसे एक राष्ट्र, एक परीक्षा के रूप में प्रस्तुत किया गया था, वह असल में एक राष्ट्र, एक विनाशकारी विफलता का बिंदु बन गया है। अब एक भी चूक लाखों लोगों के भविष्य को अस्थिर कर देती है। यह कोई अप्रत्याशित दुर्घटना नहीं है। इसकी चेतावनी के शुरुआती संकेत साफ़ थे। 2024 के नीट घोटाले के बाद, इसरो के पूर्व अध्यक्ष के. राधाकृष्णन की अध्यक्षता वाली एक समिति ने कथित तौर पर बड़े संरचनात्मक सुधारों की सिफारिश की थी, जिसमें कंप्यूटर-आधारित परीक्षण, कई परीक्षा सत्र, मज़बूत डिजिटल सुरक्षा उपाय और विकेंद्रीकृत सुरक्षा तंत्र शामिल थे। शुक्र है कि सरकार अब कंप्यूटर-आधारित परीक्षण के लिए सहमत हो गई है। समिति ने स्पष्ट रूप से यह बताया था कि हज़ारों केंद्रों तक भौतिक प्रश्न पत्रों को पहुंचाने से भारी कमज़ोरियां पैदा होती हैं। उनकी अधिकांश सिफारिशों पर अमल करने में देरी की गई, उन्हें कमज़ोर किया गया या चुपचाप ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। अधिकारियों ने जोखिमों को तो पहचाना, लेकिन व्यवहार में प्रशासनिक सुविधा को चुना गया।

वर्षों तक, नीट को एक ऐसे सुधार के रूप में पेश किया गया जो मेडिकल दाखिलों में भ्रष्टाचार को खत्म करेगा, योग्यता को मानकीकृत करेगा

और अवसरों को लोकतांत्रिक बनाएगा। लेकिन वास्तविकता कुछ और ही रही है। परीक्षा भले ही एक जैसी हो, लेकिन उम्मीदवारों को तैयार करने वाली परिस्थितियां बहुत ज़्यादा असमान हैं। कोटा या चेन्नई के किसी प्रतिष्ठित सीबीएसई संस्थान का छात्र, जिसके पास महंगी कोचिंग, अंग्रेज़ी भाषा में दक्षता और वर्षों की विशेष तैयारी है, बिहार या ओडिशा के किसी ग्रामीण सरकारी स्कूल के छात्र के साथ समान शर्तों पर प्रतिस्पर्धा नहीं करता है। परीक्षा की समानता, अवसरों की समानता बिल्कुल भी नहीं है। ठीक यही चिंता तमिलनाडु जैसे राज्यों द्वारा बार-बार उठाई गई थी, जिनके विरोध को अक्सर राजनीतिक प्रतिरोध या योग्यता-विरोधी लोकलुभावनवाद कहकर खारिज कर दिया जाता था। समय ने काफी हद तक उस आशंका को सही साबित किया है।

नीट ने असमानता को खत्म नहीं किया है। इसने कोचिंग तक पहुंच के इर्द-गिर्द असमानता को फिर से संगठित कर दिया है। मेडिकल प्रवेश परीक्षा की तैयारी एक विशाल व्यावसायिक उद्योग में तब्दील हो गई है। पूरे शहर नीट के डर पर टिके हुए हैं। परिवार आवासीय कोचिंग केंद्रों, रिपीट बैचों, टेस्ट सीरीज़ और व्यक्तिगत मार्गदर्शन पर लाखों रुपये खर्च करते हैं। छात्र वर्षों पहले से तैयारी शुरू कर देते हैं, अक्सर अपनी किशोरावस्था पूरी तरह से कुर्बान कर देते हैं। विडंबना यह है कि प्रवेश में व्यवसायीकरण को रोकने के लिए शुरू किए गए सुधार ने परीक्षा की तैयारी में अभूतपूर्व व्यवसायीकरण को जन्म दिया है। और जब एक ही परीक्षा देश की लगभग हर मेडिकल सीट का प्रवेश द्वार बन जाती है, तो धोखाधड़ी के लिए प्रोत्साहन बहुत बढ़ जाता है। पेपर लीक अब नकल की छिटपुट घटनाएं नहीं रह गई हैं। ये संगठित आर्थिक उद्यम बन गए हैं। वे एक ऐसी प्रणाली का तार्किक परिणाम हैं जो एक ही महत्वपूर्ण घटना में असाधारण शक्ति केंद्रित करते हैं। अब हर गड़बड़ी या सुरक्षा उल्लंघन एक साथ लाखों लोगों को प्रभावित करता है। समस्या केवल अक्षमता नहीं है। यह शक्ति और जिम्मेदारी का संरचनात्मक अतिकेंद्रीकरण है। कोई भी संस्था, चाहे वह कितनी भी अच्छी तरह से संचालित हो, इतने बड़े पैमाने पर केंद्रीकरण को अनिश्चित काल तक कायम नहीं रख सकती।

एक बड़ा सवाल यह भी है जिसे भारत लगातार टाल रहा है, कि क्या किसी छात्र का पूरा भविष्य एक ही उच्च दबाव वाली परीक्षा में उसके प्रदर्शन पर निर्भर होना चाहिए? चिकित्सा केवल बहुविकल्पीय प्रश्नों को हल करने और याददाश्त पर आधारित पेशा नहीं है। इसमें सहानुभूति, नैतिक निर्णय, संवाद, लचीलापन और निरंतर बौद्धिक परिपक्वता की आवश्यकता होती है। इसके अलावा, 12 साल की स्कूली शिक्षा को प्रभावी रूप से एक ही परीक्षा दिवस में समेट दिया जाता है। जिस प्रणाली ने निश्चितता का वादा किया था, वह अब बार-बार मुकदमेबाजी और भ्रम पैदा कर रही है।

दुर्भाग्य से, इसका सबसे बड़ा बोझ छात्रों पर पड़ता है। परीक्षाओं के रद्द होने से होने वाले भावनात्मक आघात को महज़ मामूली असुविधा नहीं कहा जा सकता। कई छात्रों ने पहले भी कई प्रयास किए होंगे। कुछ अपने घर से दूर कोचिंग केंद्रों में गए होंगे। कुछ ऐसे परिवारों से भी होंगे जिनकी सारी बचत खत्म हो चुकी होगी। मौजूदा व्यवस्था में जवाबदेही बेहद कमज़ोर है। जब घोटाले सामने आते हैं, तो ज़िम्मेदारी आसानी से लॉजिस्टिक्स विक्रेताओं, स्थानीय अधिकारियों, निजी ठेकेदारों और आपराधिक बिचौलियों में बंट जाती है। संस्थागत जवाबदेही शायद ही कभी उच्च स्तर तक पहुंचती है। गिरफ्तारियां दिखाई जाती हैं, समितियां गठित की जाती हैं और ढांचागत सुधार बेहद धीमी गति से होता है।

भारत को वास्तव में वर्तमान स्थिति से कहीं अधिक ईमानदार बातचीत की आवश्यकता है। निश्चित रूप से, इसका समाधान न तो ढहते केंद्रीकृत मॉडल का अंधाधुंध बचाव है और न ही राष्ट्रीय मानकों का सरलीकरण। ज़रूरत है एक बेहतर स्तर के प्रवेश ढांचे की जो राष्ट्रीय मानकों और क्षेत्रीय लचीलेपन के बीच संतुलन बनाए रख सके।

प्रवेश परीक्षा के अंकों के साथ-साथ विद्यालय के प्रदर्शन को भी महत्व देना होगा। और बुनियादी ढांचे और जोखिम दोनों को कई परीक्षा अवधियों में वितरित किया जाना भी जरूरी है। सबसे बढ़कर, हमें इस भ्रम को त्याग देना चाहिए कि केंद्रीकरण निष्पक्षता की गारंटी देता है। शिक्षा में गहरी असमानता वाले देश में, यह इसके विपरीत परिणाम देता है। और जब लाखों युवा अपने भविष्य का फैसला करने वाली प्रक्रिया पर से विश्वास खो देते हैं, तो संकट केवल शैक्षिक नहीं रह जाता।❑

स्वास्थ्य सेवा प्रणाली पतन के कगार पर

❑

❑
पी. शेष कुमार

सीएजी के पूर्व महानिदेशक ने इस लेख में भारत में होने वाली मेडिकल लापरवाही के हर पहलू की बारीकी से जांच करने की कोशिश की है। सं.

भारत का स्वास्थ्य सेवा क्षेत्र, जिसकी दुनिया भर में अक्सर कम लागत वाले मेडिकल टूरिज्म और वर्ल्ड-क्लास टर्शियरी अस्पतालों के लिए तारीफ़ होती है, अपने अंदर एक बेहद परेशान करने वाला पहलू भी छिपाए हुए है – एक ऐसा पहलू जिसमें बेवजह की सर्जरी, बड़े पैमाने पर इंश्योरेंस फ्रॉड, अंगों की तस्करी के रैकेट, फार्मा रिश्वतखोरी, डायग्नोस्टिक कमीशन और एक ऐसा रेगुलेटरी ढांचा शामिल है जो एक तरफ तो बहुत पेचीदा है, लेकिन दूसरी तरफ बिल्कुल बेअसर।

जब कोई संसदीय समिति सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार करती है कि स्वास्थ्य सेवा प्रणाली पतन के कगार पर है, तो यह महज़ एक अकादमिक टिप्पणी नहीं होती बल्कि यह एक संस्थागत खतरे की घंटी होती है। भारत की स्वास्थ्य और परिवार कल्याण संबंधी संसदीय स्थायी समिति ने ठीक इसी तरह की चेतावनी जारी की है, जिसमें उसने स्वास्थ्य सेवा प्रणाली की बिगड़ती स्थिति के संरचनात्मक कारणों के तौर पर लंबे समय से चली आ रही धन की कमी, कर्मचारियों की कमी और अनुसंधान में अपर्याप्त निवेश का ज़िक्र किया है। स्वास्थ्य क्षेत्र के लगभग 30 प्रतिशत अहम पद खाली पड़े हैं, और डॉक्टर-मरीज का अनुपात विश्व स्वास्थ्य संगठन के 1:1,000 के मानक के मुकाबले 1:1,500 से 1:1,655 के बीच अटका हुआ है; ऐसे में, इस व्यवस्था पर जो दबाव है, वह कोई इत्तेफ़ाक नहीं बल्कि इसकी बुनियाद में ही मौजूद है।

सार्वजनिक क्षमता के इस खालीपन का फ़ायदा उठाते हुए, लालची निजी क्षेत्र ने इस मैदान में कदम रख दिया है। इसने भारत में स्वास्थ्य सेवा वितरण के 80 प्रतिशत से ज़्यादा हिस्से पर अपना कब्ज़ा जमा लिया है, और ऐसा करते हुए, इसने 'इलाज की कला' को एक ऐसे बाज़ार में बदल दिया है, जो 'हिप्पोक्रेटिक शपथ' से नहीं, बल्कि तिमाही लक्ष्यों और कमीशन (किकबैक) के हिसाब-किताब से चलता है।

भारत के सात शहरों के 78 प्रैक्टिस करने वाले डॉक्टरों के इंटरव्यू पर आधारित डॉ. अरुण गाडरे और डॉ. अभय शुक्ला द्वारा लिखी किताब 'डिसेन्टिंग डायग्नोसिस' (2016), शायद इसका सबसे ज़्यादा ईमानदारी भरा और अंदरूनी ब्योरा देती है। जिन डॉक्टरों का इंटरव्यू लिया गया उनमें जनरल प्रैक्टिशनर और कार्डियोलॉजिस्ट से लेकर गायनेकोलॉजिस्ट और सर्जन तक शामिल थे। उन्होंने मिलकर एक

ऐसे सिस्टम का ज़िक्र किया, जहाँ तर्कसंगत और नैतिक मेडिकल देखभाल मिलना लगातार मुश्किल होता जा रहा है, जहाँ ईमानदार डॉक्टर खुद को घिरा हुआ महसूस करते हैं, और जहां दवा कंपनियों का असर और भी ज़्यादा फैल गया है। कई डॉक्टरों ने इस बात की पुष्टि की कि उन पर बेवजह के इलाज सुझाने का दबाव था, वरना उन्हें नौकरी से निकाले जाने या कॉर्पोरेट अस्पतालों से रेफरल मिलना बंद हो जाने का खतरा था। यह सिर्फ़ कुछ बुरे लोगों की कहानी नहीं है,यह तो एक पूरे के पूरे भ्रष्ट तंत्र की कहानी है।

महाराष्ट्र के बड़े अस्पतालों में सीनियर डॉक्टरों की सैलरी कथित तौर पर हर महीने एक करोड़ रुपये तक पहुंची हुई है। इसकी वजह सिर्फ़ उनकी मेडिकल विशेषज्ञता नहीं है, बल्कि मरीज़ों को गैर-ज़रूरी टेस्ट, भर्ती और सर्जरी करवाने के लिए राज़ी करने की उनकी काबिलियत है, जो उन्हें अपने एम्प्लॉयर्स के लिए बेहद फ़ायदेमंद बनाती है। यह टारगेट-आधारित मेडिकल प्रैक्टिस, हेल्थकेयर के कॉर्पोरेटाइज़ेशन का सबसे क्रूर और तार्किक अंजाम है।

आयुष्मान भारत प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना, जो भारत की प्रमुख सरकारी स्वास्थ्य बीमा योजना है, इस बात का एक जीता-जागता उदाहरण बन गई है कि कैसे एक अच्छी नीयत वाली सामाजिक नीति का व्यवस्थित तरीके से गलत फ़ायदा उठाया जा सकता है। नेशनल एंटी-फ्रॉड यूनिट ने 6.66 करोड़ दावों की जांच की, जिनमें से निजी अस्पतालों के कुल 562.4 करोड़ रुपये के 2.7 लाख दावे गलत इस्तेमाल, दुरुपयोग या गलत प्रविष्टियों के कारण अस्वीकार्य पाए गए। इन धोखाधड़ी वाले दावों में से अकेले पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश का हिस्सा 74.5 करोड़ रुपये का था।

सरकार की अपनी प्रतिक्रिया का पैमाना ही यह कहानी बयां करता है कि यह धोखाधड़ी कितनी गहरी जड़ें जमा चुकी थी। 2025 तक, केंद्र सरकार ने 1,114 अस्पतालों को पैनल से हटाया, 549 अन्य को निलंबित किया, 1,504 अस्पतालों पर 122 करोड़ रुपये का जुर्माना लगाया, और 643 करोड़ रुपये के 3.56 लाख फर्जी दावों को खारिज किया था। हालांकि सरकार इन आंकड़ों को जीरो-टॉलरेंस नीति के सबूत के तौर पर पेश करती है, लेकिन ये आंकड़े यह भी बताते हैं कि कैसे सैकड़ों-हजारों फर्जी लेनदेन होते हैं और पता चलने से पहले की मामलों में उनका भुगतान हो जाता है।

धोखाधड़ी का यह तरीका बेहद शातिर है: अस्पताल नामांकित लाभार्थियों के स्मार्ट कार्ड स्वाइप करते हैं, उन इलाज के लिए बिल बनाते हैं जो कभी किए ही नहीं गए, महंगे इलाज का दावा करने के लिए कोड को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते हैं, या सबसे बेशर्मी भरे मामलों में, उन मरीजों के इलाज का दावा करते हैं जो अस्पताल में भर्ती भी नहीं हुए थे। ऐसे कई मामले सामने आए हैं जिनमें सर्दी-जुकाम या छोटी-मोटी बीमारियों वाले मरीजों को आयुष्मान भारत के तहत नामांकित किया गया और उनसे महंगी सर्जरी के लिए बिल वसूले गए अस्पतालों ने पैसा अपनी जेब में डाल लिया, और मरीजों ने भी, कई बार, सहयोग करने के बदले में एक छोटी सी रकम ले ली।

बीमा धोखाधड़ी सिर्फ़ सरकारी योजनाओं तक ही सीमित नहीं है। निजी मेडिक्लेम पॉलिसियां भी इससे उतनी ही प्रभावित होती हैं। ख़बरों के मुताबिक, 3,000 से ज़्यादा जाने-माने अस्पतालों को बड़ी बीमा कंपनियों ने झूठे दावों के लिए ब्लैकलिस्ट किया है। जब पूरे भारत के अस्पतालों पर नकली या बढ़ा-चढ़ाकर बताए गए कोविड मामलों के लिए बीमा दावों का आरोप लगा, वह शायद भारत के आधुनिक इतिहास में किसी सार्वजनिक स्वास्थ्य आपातकाल का सबसे संवेदनहीन दुरुपयोग का उदाहरण था।

कुख्यात भ्रष्टाचार के कारण मेडिकल काउंसिल ऑफ़ इंडिया को 2020 में इसलिए भंग किया गया था क्योंकि उस पर सदस्यों का चुनाव, मनमाने फ़ैसले, काम-काज में पारदर्शिता की कमी, और पैसे लेकर घटिया मेडिकल कॉलेजों को बेझिझक मंज़ूरी देने के आरोप थे। इसकी जगह लेने वाली संस्था, नेशनल मेडिकल कमीशन, जिसे संसद के एक कानून के तहत बनाया गया था, से उम्मीद थी कि यह एक बड़ा बदलाव लाएगी। लेकिन जनवरी 2026 में आरटीआई के एक चौंकाने वाले जवाब से पता चला कि सितंबर 2020 में अपनी शुरुआत से लेकर जनवरी 2026 तक, इस कमीशन ने डॉक्टरों द्वारा दायर 185 अपीलों पर तो सुनवाई की, लेकिन मरीज़ों द्वारा दायर सभी 256 अपीलों को खारिज कर दिया। इस तरह इसने खुद को मरीज़ों की सुरक्षा सुनिश्चित करने वाली संस्था बनाने के बजाय डॉक्टरों को बचाने वाले एक ब्यूरो में बदल लिया।

कमीशन ने सितंबर 2024 में कहीं जाकर यह फ़ैसला किया कि वह

मरीज़ों की अपीलों पर भी सुनवाई शुरू करेगीऔर यह फ़ैसला भी अभी तक सार्वजनिक रूप से उपलब्ध नहीं कराया गया है। जैसा कि स्वास्थ्य नीति शोधकर्ता डॉ. के.वी. बाबू अपने दस्तावेज़ों में बताते हैं, कमीशन पिछले पांच सालों से औसतन हर हफ़्ते मरीज़ों की एक अपील को खारिज करती आ रही थी।

भारत के चिकित्सा संकट को समझने के लिए व्यक्तिगत भ्रष्टाचार करने वालों से परे जाकर उन संरचनात्मक स्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है जो धोखाधड़ी को तर्कसंगत, लाभकारी और कम जोखिम वाला बनाती हैं। पहला कारण स्वास्थ्य सेवाओं पर जेब से होने वाला खर्च है। भारत में मरीज़ अपने इलाज का अधिकांश खर्च स्वयं वहन करते हैं, उपभोक्ता संरक्षण अपर्याप्त है, मूल्य पारदर्शिता के लिए कोई नियम लागू नहीं होते, और स्वास्थ्य सेवा प्रदाता और मरीज़ के बीच जानकारी का बहुत अधिक असंतुलन है। दूसरा कारण व्यावसायिक अस्पताल मॉडल की प्रोत्साहन संरचना है। लक्ष्य-आधारित वेतन, राजस्व-आधारित विभागीय बजट और अस्पतालों की रैंकिंग जो परिणाम की तुलना में मात्रा को पुरस्कृत करती है, एक ऐसा वातावरण बनाती है जहां ज़रूरत से ज़्यादा इलाज के लिए मिलने वाला वित्तीय लाभ उचित इलाज के लिए मिलने वाले लाभ से कहीं अधिक होता है। वरिष्ठ अस्पताल प्रशासक, जिनका अपना वेतन अस्पताल के मुनाफे से जुड़ा होता है, इस ओर ध्यान नहीं देते। तीसरा कारण नियामक गतिरोध है - एक क्लिनिकल एस्टैब्लिशमेंट्स एक्ट जो केवल कागजों पर मौजूद है लेकिन व्यवहार में नहीं, एक राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग जिसने 2024 तक मरीजों की शिकायतों पर सुनवाई करने से इनकार कर दिया, और एक फार्मास्युटिकल मार्केटिंग कोड जो स्वैच्छिक है इसलिए अप्रासंगिक है। चौथा कारण, जिस पर शायद ही कभी चर्चा होती है, वह है आपराधिक-राजनीतिक सांठगांठ, जो इनमें से कई गतिविधियों को संरक्षण प्रदान करती है। पुलिस, अस्पताल कर्मचारियों और अंग तस्करी नेटवर्क के बीच मिलीभगत के कई मामले सामने आए हैं।

आगे का रास्ता न तो राजनीतिक रूप से आसान है और न ही आर्थिक रूप से कष्टहीन, लेकिन स्वास्थ्य सेवा प्रणाली में सुधार से जुड़े वैश्विक प्रमाणों के आधार पर इसकी मोटी-मोटी रूपरेखा काफी हद तक स्पष्ट है। सबसे पहले, सरकार को क्लिनिकल एस्टैब्लिशमेंट्स एक्ट 2010 को तुरंत लागू करना चाहिए, जिसमें कीमतों में पारदर्शिता, इलाज के तय प्रोटोकॉल और लागू किए जा सकने वाले न्यूनतम मानक अनिवार्य हों। इसके साथ ही, सरकार को दवा बाज़ार के तरीकों से निबटने के लिये एक समान संहिता बनानी चाहिए, जिसमें कानूनी अधिकार हों और उल्लंघन करने पर आपराधिक सज़ा का प्रावधान हो। मौजूदा कोड का स्वैच्छिक स्वरूप इसे बेअसर बना देता है।

दूसरा, भारत को एक स्वतंत्र, पर्याप्त संसाधनों वाले लोकपाल की ज़रूरत है, जिसके पास खुद से जांच करने के अधिकार हों ताकि वह धोखाधड़ी, ज़रूरत से ज़्यादा इलाज और संस्थागत कदाचार के मामलों की समीक्षा कर सके, और इसके लिए उसे इस बात पर निर्भर न रहना पड़े कि मरीज़ एक मुश्किल माहौल से जूझते हुए अपनी शिकायत करे।

तीसरा, राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग को सचमुच यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह मरीज़ों की शिकायतें सुने और उन पर फ़ैसला दे, बार-बार गलती करने वालों का नाम मेडिकल रजिस्टर से हटा दे, और अपने फ़ैसलों को पूरी पारदर्शिता के साथ सार्वजनिक करे।

चौथा, मानव अंग प्रत्यारोपण कानून में व्यापक संशोधन की ज़रूरत है - सज़ाओं को और कड़ा किया जाए, हर मामले के लिए राष्ट्रीय स्तर पर डेटा रिपोर्टिंग अनिवार्य की जाए, और राज्यों को कानून लागू करने के लिए संसाधन दिए जाएं जो अभी सिर्फ़ नाम के लिए मौजूद हैं।

पांचवीं, और सबसे बुनियादी बात यह है कि भारत को अपनी राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति के उस वादे को पूरा करना चाहिए जिसके तहत जीडीपी का 2.5 प्रतिशत हिस्सा सार्वजनिक स्वास्थ्य पर खर्च किया जाना है। भारतीय स्वास्थ्य सेवा क्षेत्र में निजी क्षेत्र का बढ़ता दबदबा काफी हद तक इस बात का नतीजा है कि सरकार ने सभी लोगों को स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराने की अपनी प्राथमिक ज़िम्मेदारी से मुंह मोड़ लिया है। जब तक प्रति व्यक्ति सार्वजनिक स्वास्थ्य खर्च दुनिया में सबसे कम बना रहेगा, तब तक मरीज़ बेबस, असुरक्षित और एक ऐसे निजी तंत्र की दया पर निर्भर रहेंगे, जिसके पास नैतिक बने रहने का कोई खास ढांचागत प्रोत्साहन नहीं है।

नागरिक समाज, उपभोक्ता संगठनों और सक्रिय मीडिया को 'निगरानी करने वालों' के तौर पर सशक्त बनाया जाना चाहिए। इन प्रयासों को संस्थागत सहयोग और 'व्हिसलब्लोअर्स' (भेद खोलने वालों) के लिए कानूनी सुरक्षा की ज़रूरत है। ❑

संगीत और चिकित्सा का गहरा संबंध

डॉ. ए. सम्पथ कुमार

पांच दशकों से अधिक के अनुभव वाले देश के एक प्रमुख कार्डिओ-थोरेसिक सर्जन डॉ. संपथ कुमार की पुस्तक 'डायरी ऑफ ए हार्ट सर्जन' प्राकृत भारती अकेडेमी, जयपुर ने प्रकाशित की है। इसके एक अध्याय का उपयोग हम यहां आभार सहित कर रहे हैं। सं.

❑

गर्भाधान के समय से ही मानव शरीर ने संगीत को अपने कार्यों में समाहित किया हुआ है। इसमें सामंजस्य, समकालिकता, धुन, ताल, समयबद्धता और विराम शामिल हैं। अफसोस की बात है कि हमारे पास इसे ऑर्केस्ट्रा में प्रस्तुत करने के लिए स्वरलिपि उपलब्ध नहीं है।

यदि हमारे अंगों को एक ऑर्केस्ट्रा समूह में व्यवस्थित किया जाए, तो मस्तिष्क कंडक्टर होगा। मांसपेशियां और नसें तार वाले वाद्ययंत्रों की तरह होंगी। हृदय लयबद्ध ताल वाद्य यंत्रों की तरह होगा। फेफड़े और रक्त परिसंचरण बांसुरी, ओबो, पिकोलो और क्लैरिनेट जैसे कोमल वाद्य यंत्रों की तरह होंगे। यकृत, आंतें और गुर्दे (पेट के अंग) बेस और ट्यूबा होंगे। स्वर रज्जु, नाक, होंठ और जीभ पीतल वाले वाद्ययंत्रों की तरह होंगे।

जीवन भर समय पर और सहजता से की जाने वाली वे अनजानी दैनिक गतिविधियां, जो मानव के पूरे जीवनकाल में लयबद्ध नियमितता के साथ निरंतर बजती रहती हैं, एक सिम्फनी की तरह होती है। इसे भ्रूण विकास के दौरान धीमी गति से बजने वाले एंडांटे, प्रारंभिक शैशवावस्था के धीमे एडैगियो, बचपन में तेज गति वाले प्रेस्टो, किशोरावस्था और वयस्कता में जीवंत एलेग्रो विवासे और वृद्धावस्था में फिर से एडैगियो के रूप में व्यवस्थित और संयोजित किया हुआ है। इस ऑर्केस्ट्रा की अनदेखी करना और सिम्फनी को बाधित करना मुसीबत को न्योता देना होता है, और जैसा कि अपेक्षित है, बीमारी का कारण बन सकता है।

आप सोच रहे होंगे कि संगीत इतना महत्वपूर्ण क्यों है। गर्भ में पल रहा शिशु संगीत के साथ बेहतर ढंग से विकसित होता है। यह संगीत ही है जो प्राथमिक शिक्षा के समय से ही चरित्र को गढ़ता है; संगीत रचनात्मकता और मन की शांति को बढ़ाने के साथ-साथ स्वास्थ्य को भी बेहतर बनाने के लिए जाना जाता है। हम जो भी गतिविधि

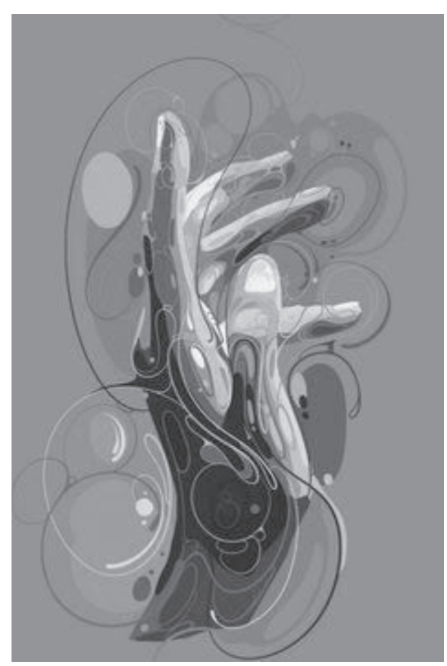

करते हैं जैसे चलना, जॉगिंग, एरोबिक्स और योग उन सभी के लिए कोई न कोई संगीत मौजूद है। इस बात के प्रमाण भी हैं कि संगीतकार और ऑर्केस्ट्रा के संचालक अधिक लंबा जीवन जीते हैं और अधिक संतुष्ट रहते हैं।

गहरी नज़र से देखने पर, ऐसे लोगों को पहचाना जा सकता है जिनके शरीर में संगीत की कमी के कारण गंभीर असंतुलन होता है, और नतीजतन उनके मन में भी। संगीत का उल्टा असर भी हो सकता है; यह किसी की बेचैनी बढ़ा सकता है और भावनात्मक संतुलन बिगाड़ सकता है खासकर तब, जब व्यक्ति संगीत सुनने का इच्छुक न हो या उसके बारे में जानकारी न रखता हो। ऐसे लोग जहां भी जाते हैं, वहां सारा संगीत बंद करवा देते हैं और पूरी तरह से शांति की मांग करते हैं। उन्हें अपनी आवाज़ से भी खास लगाव हो सकता है। शायद यही वजह है कि हमें भारतीय लोकसभा, ब्रिटिश हाउस ऑफ़ कॉमन्स, जर्मन बुंडेस्टाग या अमेरिकी हाउस ऑफ़ रिप्रेज़ेंटेटिव्स में कोई संगीत सुनने को नहीं मिलता। इसी लिए राजनीति में कोई तालमेल नहीं होता।

जैसा कि कहा जाता है, संगीत आत्मा की भाषा है और यह राष्ट्र, धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति और परंपरा की सभी बाधाओं को पार कर जाता है। इसमें कोई हैरानी की बात नहीं है कि संगीत सभी जीवित प्राणियों को एकजुट करता है।

प्रकृति के संगीत को सुनने की कला विकसित करके देखिए – पक्षियों के गीत, पतंगों की चहचहाहट, उभयचरों, व्हेल और हाथियों की पुकार, गरज और बिजली, ईओलियन हार्प की मधुर ध्वनियां, बारिश, हवा और तूफानों की आवाज़ – ये सभी प्रकृति में संगीत के जाने-पहचाने उदाहरण हैं। कुछ संगीतकारों और वादकों ने प्रकृति की सुखदायक ध्वनियां रचने के लिए विशेष प्रयास किए हैं, खासकर बहते पानी और समुद्र की लहरों से। शाम का संगीत समारोह मनोरंजन का सबसे शांतिपूर्ण और आनंददायक रूप होता है।

संगीत, खासकर सुकून देने वाला वाद्य संगीत, ज़्यादातर जगहों पर जैसे होटलों, हवाई अड्डों, शॉपिंग मॉल, रेलवे स्टेशनों, अस्पतालों और पब्लिक ट्रांसपोर्ट में लगातार बजता रहता है। संगीत नर्सरी, बच्चों के वार्ड, लेबर रूम, आउटपेशेंट डिपार्टमेंट के वेटिंग हॉल और ऑपरेशन थिएटर में खास तौर पर फ़ायदेमंद होता है। कैंसर वार्ड और ऑपरेशन के बाद के कक्ष में मरीज़ों के ठीक होने पर संगीत के असर पर हाल ही में रिसर्च की गई है। ऐसा लगता है कि इसके फ़ायदेमंद असर होते हैं और यह घबराहट और दर्द को कम कर सकता है। यह मन को शांत कर सकता है और सुकून देने वाला असर डाल सकता है।

मैंने खुद सर्जनों को सर्जरी के दौरान पश्चिमी शास्त्रीय संगीत, ओपेरा, समकालीन रॉक, दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत और कई अन्य तरह के संगीत का इस्तेमाल करते देखा है। मैंने गौर किया है कि लोगों की अपनी पसंद बहुत अलग-अलग होती है, और मैंने देखा है कि स्टाफ अपनी उम्र और पसंद के हिसाब से संगीत बदलता रहता है। हालांकि, एक बात जो सबमें एक जैसी थी, वह यह थी कि कमरे में मौजूद सभी लोगों पर संगीत का गहरा असर पड़ रहा था। वहां न के बराबर या बिल्कुल भी घबराहट नहीं थी, न ही किसी का मिजाज बिगड़ा हुआ था और न ही किसी का ध्यान भटक रहा था। वहां एक दोस्ताना और खुशी भरा माहौल साफ महसूस किया जा सकता था। संगीत के बारे में लोगों की अज्ञानता धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है, क्योंकि लोग अब इसके प्रति ज़्यादा जागरूक हो रहे हैं; वे अलग-अलग तरह का संगीत सीख रहे हैं, उसकी सराहना कर रहे हैं, या उसे सुनने के लिए अलग-अलग गैजेट खरीद रहे हैं।

एक ऐसा क्षेत्र जहां संगीत बहुत फ़ायदेमंद साबित हुआ है, वह है न्यूरोलॉजी और न्यूरोसर्जरी आईसीयू में। इनमें से कई मरीज़ लकवाग्रस्त, कोमा में या अर्ध-कोमा की स्थिति में होते हैं, और कई अपनी बोलने की शक्ति खो चुके होते हैं; लेकिन जब वे संगीत सुनते हैं खासकर वह संगीत जिसे वे घर पर सुना करते थे, या जानी-पहचानी आवाज़ें और यहां तक कि प्रार्थनाएं तो वे ज़्यादा तेज़ी से ठीक होते हैं।

डॉक्टर ऐसे मरीज़ों के लिए संगीत थेरेपी की अनुमति देते हैं और इसे उपचार के तौर पर सुझाते भी हैं। यह चिंता और डर को कम करता है।

यह मानना न तो कोई कल्पना है और न ही कोई वहम कि संगीत ही जीवन का मूल आधार है; जीवन को एक व्यवस्थित कार्य के रूप में परिभाषित किया जाता है। यदि इसमें कोई बाधा आती है, तो जीवन का संतुलन बिगड़ जाता है। एक स्वस्थ जीवन के लिए, अपनी लय और धुनों के प्रति जागरूक रहना अत्यंत आवश्यक है। ❑

भावनात्मक अलगाव की स्वास्थ्य लागत

❑

❑

प्रतीक्षा वत्स

पोषण विशेषज्ञ, स्वास्थ्य लेखक और वेलनेस कोच समाज में बढ़ती भावनात्मक दूरियों की विवेचना कर रही हैं। सं.

भावनात्मक अलगाव की छिपी हुई स्वास्थ्य लागत कई बीमारियां महज शरीर की बीमारियां नहीं होतीं वे अनसुने मन की अभिव्यक्ति होती हैं। आज मानव पीड़ा का एक बड़ा हिस्सा न केवल दवाइयों से, बल्कि जागरूकता, भावनात्मक अभिव्यक्ति और सच्चे मानवीय जुड़ाव से भी रोका जा सकता है।

एक खामोश बीमारी हमारे घरों में प्रवेश कर रही है। इसमें बुखार नहीं होता, किसी निदान रिपोर्ट में इसका ज़िक्र नहीं होता, फिर भी यह रोज़मर्रा की ज़िंदगी में धीरे-धीरे घर कर जाती है अनदेखी बातचीत में, उन लोगों के बीच बढ़ती भावनात्मक दूरी में जो कभी सहजता से सब कुछ साझा करते थे। आज की दुनिया में, हम प्रेम को ज़िम्मेदारी से मापते हैं हम कितना प्रदान करते हैं, कितनी मेहनत करते हैं, कितना सुरक्षित भविष्य बनाते हैं। ये इरादे सच्चे हैं। लेकिन कहीं न कहीं, हमने उपस्थिति को प्रदान करने से बदल दिया है।

इस कमी को सबसे ज़्यादा वे लोग महसूस करते हैं जो शायद ही कभी ध्यान चाहते हैं-हमारे बुज़ुर्ग। उन्हें भोजन दिया जाता है, दवाइयाँ दी जाती हैं, आराम सुनिश्चित किया जाता है। फिर भी भावनात्मक देखभाल की कमी बनी रहती है। वे खिड़कियों के पास चुपचाप बैठे समय को गुज़रते देखते हैं, मनोरंजन नहीं, बल्कि जुड़ाव की तलाश में। इसके बजाय उन्हें अक्सर परिचित शब्द सुनने को मिलते हैं: मैं व्यस्त हूँ, काम बहुत ज़्यादा है। ये कठोर शब्द नहीं हैं। ये ज़िम्मेदारी से आते हैं। लेकिन समय के साथ, ये भावनात्मक जुड़ाव को स्पष्टीकरण से बदल देते हैं। क्योंकि प्रेम को केवल प्रयास से नहीं मापा जाता, बल्कि इसे उपस्थिति में महसूस किया जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन मानता है कि वृद्ध वयस्कों में अकेलापन केवल एक भावनात्मक समस्या नहीं है, बल्कि अवसाद, संज्ञानात्मक गिरावट और चिकित्सा पर बढ़ती निर्भरता से जुड़ा एक गंभीर स्वास्थ्य जोखिम है।

अकेलापन केवल मन तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि यह शरीर को भी प्रभावित करने लगता है। यह पैटर्न केवल बुजुर्गों तक ही सीमित नहीं है। रिश्तों में भी, जब भावनात्मक ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं, तो वे शायद ही कभी

प्रत्यक्ष संचार के रूप में प्रकट होती हैं। इसके बजाय, वे चिड़चिड़ापन, अलगाव या अस्पष्ट शारीरिक लक्षणों – थकान, सिरदर्द, लगातार बेचैनी – के रूप में उभरती हैं। जो अतिप्रतिक्रिया प्रतीत होती है, वह अक्सर निकटता की एक अनकही ज़रूरत होती है। एक साधारण आलिंगन, कुछ मिनटों का पूरा ध्यान, वह हल कर सकता है जो कोई तर्क नहीं कर सकता। यह एक गहरा सत्य है जिसे शायद ही कभी स्वीकार किया जाता है।

कुछ परिवारों में, बीमारी आने पर ध्यान बढ़ जाता है – लोग इकट्ठा होते हैं, बातचीत धीमी हो जाती है, चिंता दिखाई देने लगती है। अनजाने में, एक जुड़ाव बनता है। जब मैं अस्वस्थ होती हूँ, तो मुझे देखा जाता है। समय के साथ, यह भावनात्मक अनुकूलन व्यवहार को आकार दे सकता है। चिकित्सा दौरे दोहरे उद्देश्य की पूर्ति करने लगते हैं – न केवल शारीरिक देखभाल के लिए, बल्कि साथ बिताए पलों के लिए भी। इसका मूल कारण चिकित्सीय नहीं है। यह एक भावनात्मक अनुपस्थिति है।

जब भावनात्मक ज़रूरतें लगातार पूरी नहीं होतीं, तो एक शांत चक्र शुरू हो जाता है ˗ अकेलापन शारीरिक तकलीफ़ में बदल जाता है, जिससे कुछ समय के लिए ध्यान मिलता है, लेकिन फिर अकेलापन लौट आता है। यह चक्र धीरे-धीरे मेडिकल निर्भरता बढ़ा सकता है, भले ही इसका कोई पूरी तरह से शारीरिक कारण न हो।

इस चक्र को जो चीज़ तोड़ सकती है, वह जटिलता नहीं ˗ बल्कि निरंतरता है। रोज़ाना कुछ मिनटों का पूरा ध्यान, सच्ची लगन से सुनना, और असली दिलचस्पी के साथ पूछे गए सीधे-सादे सवाल ˗ ये कोई छोटी-मोटी बातें नहीं हैं। ये भावनात्मक सहारे हैं।

इससे पहले कि बीमारी ही वह एकमात्र ज़रिया बन जाए जिसके माध्यम से किसी की बात सुनी जाए, हमारे पास पहले ही उनकी बात सुनने का मौका होता है। क्योंकि किसी को भी सिर्फ़ इसलिए बीमार नहीं पड़ना चाहिए ताकि लोग उन पर ध्यान दें।❑

सबसे ज़ोर से चिल्लाने का विश्व रिकॉर्ड

कैनबरा के रहने वाले जोसेफ मैकग्रेल-बेटअप ने सबसे ज़ोर से चिल्लाने का वर्ल्ड रिकॉर्ड तोड़कर इतिहास में अपनी जगह पक्की कर ली है। 58 साल के एयर कंडीशनर क्लीनर और मानद 'टाउन क्रायर' (शहर में घोषणा करने वाले) ने अंग्रेजी के सिर्फ़ एक शब्द 'नाउ' बोलकर 122.4 डेसिबल की ज़बरदस्त आवाज़ निकाली। इस आवाज़ की तीव्रता को समझने के लिए बता दें कि उनकी चीख चेनसा (लकड़ी काटने वाली मशीन), टेक-ऑफ करते जेट इंजन या पास से बजते एम्बुलेंस के सायरन जितनी तेज़ थी। उन्होंने एनालिसा फ्लैनागन के 1994 से चले आ रहे 121.7 डेसिबल के पिछले रिकॉर्ड को आधिकारिक तौर पर तोड़ दिया।

यह कारनामा कोई मामूली कोशिश नहीं थी। ऑस्ट्रेलिया की राजधानी के आधिकारिक 'टाउन क्रायर' मैकग्रेल-बेटअप ने बताया कि इस रिकॉर्ड के लिए पारंपरिक तरीके से ट्रेनिंग करना नामुमकिन था। एक प्रोफेशनल रेडियो स्टूडियो में सात बार कोशिश करने के बाद, उनकी आवाज़ कई दिनों तक भारी और थकी हुई रही। भले ही अब वे दुनिया के सबसे ज़ोर से चिल्लाने वाले व्यक्ति का खिताब अपने नाम कर चुके हैं, लेकिन वे अपनी पूर्ववर्ती (पिछली रिकॉर्ड-होल्डर) के प्रति सम्मान रखते हैं; वे बताते हैं कि सबसे ज़ोर से चिल्लाने वाली महिला का रिकॉर्ड अभी भी फ्लैनागन के पास है, जिससे यह सम्मान दोनों के बीच बंट गया है।❑

❑

संजय चंद्रा

लेखक, वक्ता, कोच और रणनीति सलाहकार हैं, जो इस आलेख में मरीज, इलाज और अस्पताल व्यवस्था के मर्म की बात कर रहे हैं। सं.

मरीज को दवा से कहीं ज़्यादा सहानुभूति की ज़रूरत

❑

हाल ही में, मैं एक जाने-माने अस्पताल में फ़ॉलो-अप कंसल्टेशन के लिए गया था, तभी मैंने देखा कि एक बुज़ुर्ग जोड़ा बिलिंग काउंटर के पास हिचकिचाते हुए खड़ा था; उन्हें साफ़ तौर पर समझ नहीं आ रहा था कि उन्हें आगे क्या करना है। जिस बात ने मेरा ध्यान खींचा, वह यह थी कि वहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति मौजूद नहीं था जो उनकी परेशानी को समझकर उनकी मदद कर सके। मेरी पत्नी, जो थोड़ी दूरी पर खड़ी थी, ने उनकी घबराहट को भांप लिया और चुपचाप उनकी मदद के लिए आगे बढ़ गई। थोड़ी देर बाद, मैंने उसी जोड़े को कोऑर्डिनेटर की डेस्क पर फिर से देखा; वे एक जूनियर डॉक्टर के निर्देशों को समझने की कोशिश कर रहे थे। कुछ मिनट बाद वे फिर वापस आए, और इस बार भी उन्हें निर्देशों को लेकर पूरी तरह से स्पष्टता नहीं थी। डॉक्टर ने बड़े ही विनम्रता से अपनी बात दोहराई, हालाँकि अब उनकी आवाज़ में थोड़ी झुंझलाहट साफ़ झलक रही थी। वहीं पास में, एक और युवा डॉक्टर एक देहाती-से दिखने वाले मरीज़ को कुछ समझा रहा था, लेकिन उसके समझाने के तरीके में सब्र और संवेदनशीलता की काफ़ी कमी थी।

कुछ दिनों बाद, एक और जाने-माने अस्पताल में, मैंने भ्रम का एक ऐसा ही पल देखा। एक बुज़ुर्ग व्यक्ति और उनका बेटा एक लंबी कतार में खड़े थे। बेटे ने अपॉइंटमेंट और पेमेंट पहले ही ऑनलाइन कर दिया था। वहां इतनी देर इंतज़ार करने के बाद, उन्हें कतार में और समय बिताने की ज़रूरत नहीं थी। मैंने उन्हें पूरी प्रक्रिया समझाई और उन्हें कंसल्टेशन एरिया की ओर भेज दिया।

एक और अनुभव मेरे मन में और भी गहराई से बस गया। हाल ही में एक अस्पताल में बुज़ुर्गों के लिए एक अलग विभाग खोला गया था, और यह विचार मुझे इतना पसंद आया कि मैं अपने पिता को वहां सलाह लेने के लिए ले गया। एक युवा डॉक्टर ने कुछ मिनट तक उनकी बात सुनी, लेकिन बीच में ही उन्हें रोककर, उनकी पूरी मेडिकल हिस्ट्री सुने बिना ही दवा का पर्चा लिख दिया। हमें उम्मीद थी कि वह हमें सही इलाज के बारे में मार्गदर्शन देगा। लेकिन, बाहर इंतज़ार करने वाला कोई मरीज़ न होने के बावजूद भी, वह आगे

बातचीत करने में काफ़ी जल्दबाज़ी में लग रहा था।

मेरे जैसे सफ़ेद बालों वाले कार्डियोलॉजिस्ट मरीज़ों को हमेशा उतना समय देते हैं जितना उन्हें मुश्किल मेडिकल शब्दों और इलाज के विकल्पों को समझने के लिए ज़रूरी होता है। मेरी युवा नेत्र विशेषज्ञ सच्ची परवाह की मिसाल हैं। वह मरीज़ों का गर्मजोशी से स्वागत करती हैं, चीज़ों को शांति से समझाती हैं, और देरी होने पर खुद माफ़ी मांगती हैं। ये दोनों दयालु डॉक्टर उसी अस्पताल सिस्टम में काम करते हैं जहां मैंने पहले अधीरता और बेरुखी देखी थी। असली समस्या कहीं ज़्यादा गहरी है। कुछ मानवीय क्षमताओं का धीरे-धीरे खत्म होना, जो आज के अत्यधिक सिस्टम-आधारित माहौल में और भी ज़्यादा ज़रूरी होती जा रही हैं।

हम देखते हैं कि धैर्य, ध्यान देने की क्षमता और सहानुभूति धीरे-धीरे कम होती जा रही है। आज के सिस्टम ज़्यादा तेज़, तकनीकी रूप से ज़्यादा कुशल और प्रशासनिक रूप से ज़्यादा व्यवस्थित हो गए हैं, लेकिन इंसान हमेशा सिस्टम की रफ़्तार से नहीं चल पाते। स्वास्थ्य सेवा और दूसरी संस्थागत जगहें अब ज़्यादा से ज़्यादा कारोबारी जगहें बनती जा रही हैं, जहां कमज़ोरी को सहानुभूति से समझने के बजाय सिर्फ़ नियमों के हिसाब से निपटाया जाता है। धैर्य से सुनने और संवेदनशीलता से जवाब देने की क्षमता समय के साथ धीरे-धीरे विकसित होती है। शायद यहीं पर साहित्य और कलाएं हमारी सोच से कहीं ज़्यादा गहरी भूमिका निभाती हैं। इस तरह के जुड़ाव से लोगों को अपनी ज़िंदगी से परे दूसरी ज़िंदगियों को समझने का मौका मिलता है। मुझे ऐसे विचारों का भी अक्सर विरोध देखने को मिलता है। माता-पिता अक्सर साहित्य और कलाओं से जुड़ी ऐसी पहलों का विरोध करते हैं और उनकी जगह सिर्फ़ काम आने वाली चीज़ों को ज़्यादा अहमियत देते हैं। अस्पतालों में, बड़े अधिकारी कभी-कभी पूछते हैं कि साहित्य का मेडिकल इलाज से भला क्या लेना-देना हो सकता है। असली सवाल यह नहीं है कि साहित्य बीमारी ठीक करता है या नहीं, बल्कि यह है कि क्या समाज आज भी ऐसे इंसानों को गढ़ने की अहमियत को पहचानता है जो धैर्य, गरिमा और परवाह के साथ दूसरों के दुख-दर्द को समझ सकें। शायद यहीं पर संस्थाओं को अपने मानवीय पक्ष को फिर से खोजने की ज़रूरत है।❑

स्पेलिंग मुकाबले में भारतीय बच्चों की धूम

भारतीय मूल के एक 14 वर्षीय भारतीय छात्र श्रेय पारिख ने पिछले दिनों वाशिंगटन में अंगरेजी शब्दों की स्पेलिंग के एक तनावपूर्ण, उच्च-स्तरीय फाइनल मुकाबले को एकतरफा जीत में बदल दिया। उसने 90-सेकंड के स्पेल-ऑफ में तेज़ी से आगे बढ़ते हुए 32 शब्दों की सही स्पेलिंग बताई और अंग्रेजी भाषा के सर्वश्रेष्ठ युवा स्पेलर का खिताब अपने नाम कर लिया। टाईब्रेकर में एक अन्य प्रतिभागी ईशान ने 25 शब्दों की सही स्पेलिंग बताई। कैलिफ़ोर्निया के रैंचो कुकामोंगा के रहने वाले 14 वर्षीय श्रेय 2024 में इसी मुकाबले में तीसरे स्थान पर रहा था, लेकिन पिछले साल जब वह बुखार से जूझ रहा था, तब वे अपने स्कूल का स्पेलिंग बी मुकाबला हार गया था। उसके बाद से उसने स्पेलिंग बी प्रतियोगिताओं में अपना दबदबा बनाए रखा है। कई मुकाबले उसने उन्हीं बच्चों के खिलाफ जीते, जिन्हें उसने इस फाइनल मुकाबले में देश की राजधानी में पछाड़ा। इस जीत पर उसे एक खास ट्रॉफी और 52,500 डॉलर की नकद राशि मिली।

न्यू जर्सी के जर्सी सिटी के रहने वाले 12 वर्षीय सातवीं कक्षा के छात्र ईशान पिछले साल सेमीफाइनल तक पहुंचा था, और उनके पास इस प्रतियोगिता में हिस्सा लेने का अभी एक और मौका बाकी है। जॉर्जिया के डनवुडी के रहने वाले 12 वर्षीय छठी कक्षा के छात्र सर्व धरवाने लगातार दूसरे साल तीसरे स्थान पर रहा, और उनके पास अपनी इस रैंकिंग को बेहतर बनाने के लिए अभी दो और साल बाकी हैं। ❑

भारतीय शहर साइकिल के मामले में नाकाम!

❑

❑

शालिनी सिंह

इंडियन स्कूल ऑफ़ पब्लिक पॉलिसी में सीनियर रिसर्च ऑफ़िसर साइकिल के जरिए पर्यावरण विरसत की याद दिला रही है। सं.

पिछले माह दुनिया ने दो दिवस मनाए: 3 जून को 'विश्व साइकिल दिवस' और 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस'। इन दोनों का आस-पास होना हमारी चिंता को उजागर करता है। यह एक संकेत है कि आने-जाने के साधन (मोबिलिटी), पर्यावरण और पब्लिक हेल्थ – ये सभी एक ही चर्चा का हिस्सा हैं। यूनाइटेड नेशंस हमसे कहता है कि पर्यावरण के लिये, अपने भविष्य के लिए हम प्रकृति से प्रेरणा लें। यह एक ज़बरदस्त अपील है। लेकिन हममें से उन लोगों के लिए, जिन्होंने भारत की पर्यावरण से जुड़ी विरासत को धीरे-धीरे खत्म होते देखा है, यह अपील एक विडंबना भी है।

हमें प्रकृति से नई प्रेरणा लेने की ज़रूरत नहीं है। हम पहले से ही प्रेरित थे, और फिर हमें रुकने के लिए कहा गया। सदियों तक, प्रकृति ही भारत की संस्कृति थी। पवित्र उपवन या देव-वन, ओरण और कोविल हर राज्य में फैले हुए थे और 'बायोडायवर्सिटी रिज़र्व' शब्द के अस्तित्व में आने से बहुत पहले ही समुदाय द्वारा सुरक्षित बायोडायवर्सिटी रिज़र्व के तौर पर काम करते थे। बावड़ियों में बारिश का पानी जमा किया जाता था; प्राकृतिक रंगों और मिट्टी के बर्तनों से कोई प्रदूषण नहीं फैलता था। चीज़ों को बदलने के बजाय उनकी मरम्मत करने की 'जुगाड़' वाली सोच जीवन जीने का एक तरीका थी।

ये आदतें ऐसे लोगों की नहीं थीं जो तरक्की की परवाह नहीं करते थे, बल्कि एक ऐसी सभ्यता की थीं जो स्वाभाविक रूप से यह बात समझती थी, जिसे अब नीति दस्तावेजों में बताया जा रहा है कि, इंसानी खुशहाली को पर्यावरण की सेहत से अलग नहीं किया जा सकता।

बदलाव विकास में नहीं, बल्कि उसे हासिल करने के तरीके में आया। उदारीकरण अपने साथ एक खास छवि और नई उम्मीदें लेकर आया। 1990 के दशक तक, ट्रांसपोर्ट के सरल और सहज साधन को चुपचाप गरीबी की निशानी मान लिया गया। देश में साइकिल के इस्तेमाल का हिस्सा 1994 में लगभग 30 प्रतिशत था, जो 2007 तक गिरकर 11 प्रतिशत रह गया।

उदारीकरण के बाद पर्यावरण को होने वाला नुकसान भी बढ़ता गया। भारत दुनिया का तीसरा सबसे प्रदूषित देश बन गया, जंगल कम हो गए, हर साल 40 लाख टन से ज़्यादा प्लास्टिक कचरा पैदा होने लगा, और दुनिया के 100 सबसे प्रदूषित शहरों में से 54 भारत में हो गए।

साइकिल भारतीय शहरों के लिए नाकाम साबित नहीं हुई थी। बल्कि, भारतीय शहरों ने ही तय कर

लिया था कि साइकिल का इस्तेमाल शर्म की बात है। भारत एक बड़ी आबादी वाला उभरता हुआ देश है, और इंडस्ट्री, माल ढुलाई और शहरों के विस्तार के लिए मोटर वाले ट्रांसपोर्ट की ज़रूरत असली और जायज़ है।

सवाल यह नहीं है कि भारत को सड़कों पर गाड़ियों की ज़रूरत है या नहीं, बल्कि यह है कि कौन सी गाड़ियां हों, वे किससे चलें और उनके साथ और क्या-क्या हो। इसका जवाब एक सोच-समझकर बनाए गए मिले-जुले तरीके में है: मेट्रो और बस रैपिड ट्रांज़िट नेटवर्क का विस्तार करना, इलेक्ट्रिक गाड़ियों को बढ़ावा देना, कारपूलिंग के लिए प्रोत्साहन देना और ऐसा 'लास्ट-माइल' इंफ्रास्ट्रक्चर बनाना जिससे साइकिल चलाना सच में आसान और व्यावहारिक हो सके।

औद्योगिक समाजों में कुछ आम समस्याएं होती हैं, जैसे वायु प्रदूषण, ट्रैफिक जाम, कार्बन उत्सर्जन और सड़क दुर्घटनाओं में मौतें। भारत को इन सभी समस्याओं का एक साथ सामना करना पड़ रहा है। सड़क दुर्घटनाओं में होने वाली मौतों के मामले में भारत दुनिया के शीर्ष देशों में शामिल है। अकेले 2022 में 1.7 लाख से ज़्यादा मौतें न सिर्फ़ ड्राइवरों के व्यवहार को दिखाती हैं, बल्कि सड़क डिज़ाइन और सुरक्षा इंफ्रास्ट्रक्चर में सिस्टम की कमियों को भी उजागर करती हैं।

यह समझना कि पर्यावरण के अनुकूल ट्रांसपोर्ट सिर्फ़ अच्छी नीयत से सफल नहीं हो सकता। इसके लिए ऐसी सड़कें चाहिए जहां साइकिल चलाना सुरक्षित हो, और ऐसे शहर जो गाड़ियों के बजाय लोगों को ध्यान में रखकर बसाये जाएं।

भारत ने आधुनिक दिखने के लिए साइकिल को छोड़ दिया, जबकि यूरोप ने आधुनिक शहर की अपनी सोच को साइकिल के इर्द-गिर्द ही बुना। जापान का 'मोट्टाइनाई' कॉन्सेप्ट – जो बर्बादी को लेकर सांस्कृतिक पछतावे पर आधारित है – पैकेजिंग कानूनों और रोज़मर्रा के कामकाज में शामिल किया गया है, जो दिखाता है कि परंपरा और तरक्की का आपस में टकराव ज़रूरी नहीं है।

नीदरलैंड, जो शुरू में साइकिल-प्रधान देश नहीं था, आज एक बहुत अच्छा उदाहरण पेश करता है। वहां लोगों से ज़्यादा साइकिलें हैं, कुल यात्राओं में 27 प्रतिशत हिस्सा साइकिल का है और अनुमान है कि इससे हर साल 6,500 लोगों की जान बचती है। इससे डच जीडीपी के तीन प्रतिशत से ज़्यादा मूल्य के स्वास्थ्य लाभ मिलते हैं।

यह बात बहुत चुभने वाली है कि भारत ने आधुनिक दिखने के लिए साइकिल को छोड़ दिया, जबकि यूरोप ने आधुनिक शहर का अपना विज़न इसी के आस-पास बनाया। भारत दोनों मॉडलों से सीख तो सकता है, लेकिन उनमें से किसी को भी हूबहू अपना नहीं सकता। यहां की आबादी का आकार और सामाजिक परिवेश अलग है। यहां साइकिल चलाने को आज भी गरीबी की निशानी माना जाता है। जो व्यक्ति काम पर जाने के लिए साइकिल का इस्तेमाल करता है, उसे ऐसा व्यक्ति माना जाता है जिसके पास कोई और विकल्प नहीं था। यह पूर्वाग्रह सिर्फ़ सोच तक ही सीमित नहीं है। चंडीगढ़ इसका सटीक उदाहरण है। इस शहर में भारत के सबसे बेहतरीन साइकिलिंग पाथ नेटवर्क में से एक है, फिर भी वे लेन ज़्यादातर खाली ही रहती हैं। सुरक्षा की चिंताएं, अपर्याप्त रोशनी, अतिक्रमण और सामाजिक पूर्वाग्रह – ये सभी इसके इस्तेमाल में बाधा डालते हैं।

पुरानी सोच और आधुनिक दिखने की चाहत के बीच फंसी आबादी सिर्फ़ जागरूकता अभियानों से नहीं बदलेगी। चाहत के बजाय नीति में चार बड़े बदलावों की ज़रूरत है। पहला, साइकिलिंग इंफ्रास्ट्रक्चर को सुरक्षित लेन, सुरक्षित पार्किंग और इंटीग्रेटेड पब्लिक ट्रांसपोर्ट के साथ मुख्य ट्रांसपोर्ट नीति का हिस्सा माना जाना होगा। दूसरा, सड़क सुरक्षा को पब्लिक हेल्थ इमरजेंसी का दर्जा देना होगा। सुरक्षित सड़क डिज़ाइन और साइकिल चलाने वालों व पैदल चलने वालों के लिए अलग कॉरिडोर, साइकिलिंग कल्चर को अपनाने के लिए ज़रूरी शर्तें हैं।

पेड़ों से घिरे साइकिलिंग कॉरिडोर एक असरदार इंफ्रास्ट्रक्चर हैं जो साइकिल चलाने वाले को छाया देते हैं और सड़क की सतह को ठंडा रखते हैं। अगर हम 'प्रकृति से प्रेरणा लेने' को लेकर गंभीर हैं, तो कम से कम हम इतना तो कर ही सकते हैं कि ट्रैफिक के लिए एक और लेन बनाने के लिए पेड़ों को काटना बंद कर दें।

साइकिल दिवस और पर्यावरण दिवस के दो मौके हमसे प्रकृति या आने-जाने के तरीकों के साथ कोई नया रिश्ता बनाने के लिए नहीं कहते। वे हमसे उस रिश्ते को ठीक करने के लिए कहते हैं जिसे हमने तोड़ दिया था।

भारत के लिए, यह सुधार किसी क्लाइमेट कॉन्फ्रेंस से शुरू नहीं हो सकता। यह इस ईमानदार स्वीकारोक्ति से शुरू हो सकता है कि हमने जीने (और आने-जाने) के उस तरीके को छोड़ दिया जो काम करता था।❑

❑

अन्नपूर्णा शुक्ला

कैनवास पर रंग बिखेर कर जीवन की नई व्याख्याएं करने वाली चित्रकार, लेखिका और कवि ने प्रौढ़ शिक्षण समिति के प्रांगण में पिछले दिनों विश्व पर्यावरण दिवस पर हुए संवाद की यह रपट अपने अंदाज से लिखी है। सं.

बुजुर्ग पेड़ों का आंचल: प्रकृति का साक्षात् स्पर्श

❑

जीवन की अंतहीन भागदौड़ और कंक्रीट के बंद कमरों की दमघोंटू दुनिया से निकलकर जब हम कभी खुले आसमान के नीचे प्रकृति के करीब जाते हैं, तो हमें इस बात का साक्षात् अहसास होता है कि प्रकृति केवल किताबों में लिखा कोई शब्द नहीं है, बल्कि यह तो एक जीती-जागती, सांस लेती और ममता से भरी हुई सत्ता है।

इस बार पर्यावरण दिवस के एक बेहद सुंदर और खुले आयोजन में जाने का सौभाग्य मिला, जहां चारों तरफ मिट्टी की सोंधी महक थी और नए पौधों का रोपण करके धरती को संवारने का जतन किया जा रहा था। इस पूरे आयोजन में प्रकृति के प्रति सम्मान और जागरूकता तो बिखरी ही हुई थी, लेकिन वहां का जो सबसे जादुई, गहरा और दिल को छू लेने वाला अनुभव था, वह था वहां के बरसों पुराने विशाल पेड़ों के नीचे बैठने का स्थान। उस खुले वातावरण में, उन बुजुर्ग पेड़ों की सघन और ठंडी छांव के नीचे बैठकर ऐसा लगा मानो हम आधुनिक दुनिया के सारे शोर और तनाव से दूर, किसी बेहद पवित्र, प्राचीन और शांत लोक में आ गए हैं जहां समय ठहर गया है।

विशेष रूप से वहां खड़े जामुन के वे दो बेहद विशाल पेड़, जो लगभग चालीस साल पुराने थे, अपनी पूरी भव्यता, गरिमा और बुजुर्गियत के साथ सिर उठाए खड़े थे। उन जामुन के पेड़ों का फैलाव और उनका घेरा इतना बड़ा तथा सघन था कि वे किसी बहुत बड़े, सुरक्षा देने वाले और एक मां जैसी शीतल छांव बनकर सब पर छाए हुए थे। उस तपती दोपहरी में भी, जब बाहर सूरज की किरणें झुलसा रही थीं, तब जामुन के पेड़ों के उस विशाल और ममतामयी आंचल के नीचे जो ठंडी हवा के झोंके आ रहे थे, वे सिर्फ शरीर को नहीं बल्कि सीधे आत्मा को तृप्त कर रहे थे। उस सुखद और गहरी छांव में बैठते ही मन के भीतर का सारा उद्वेग पूरी तरह शांत हो गया और अचानक हमारे उन

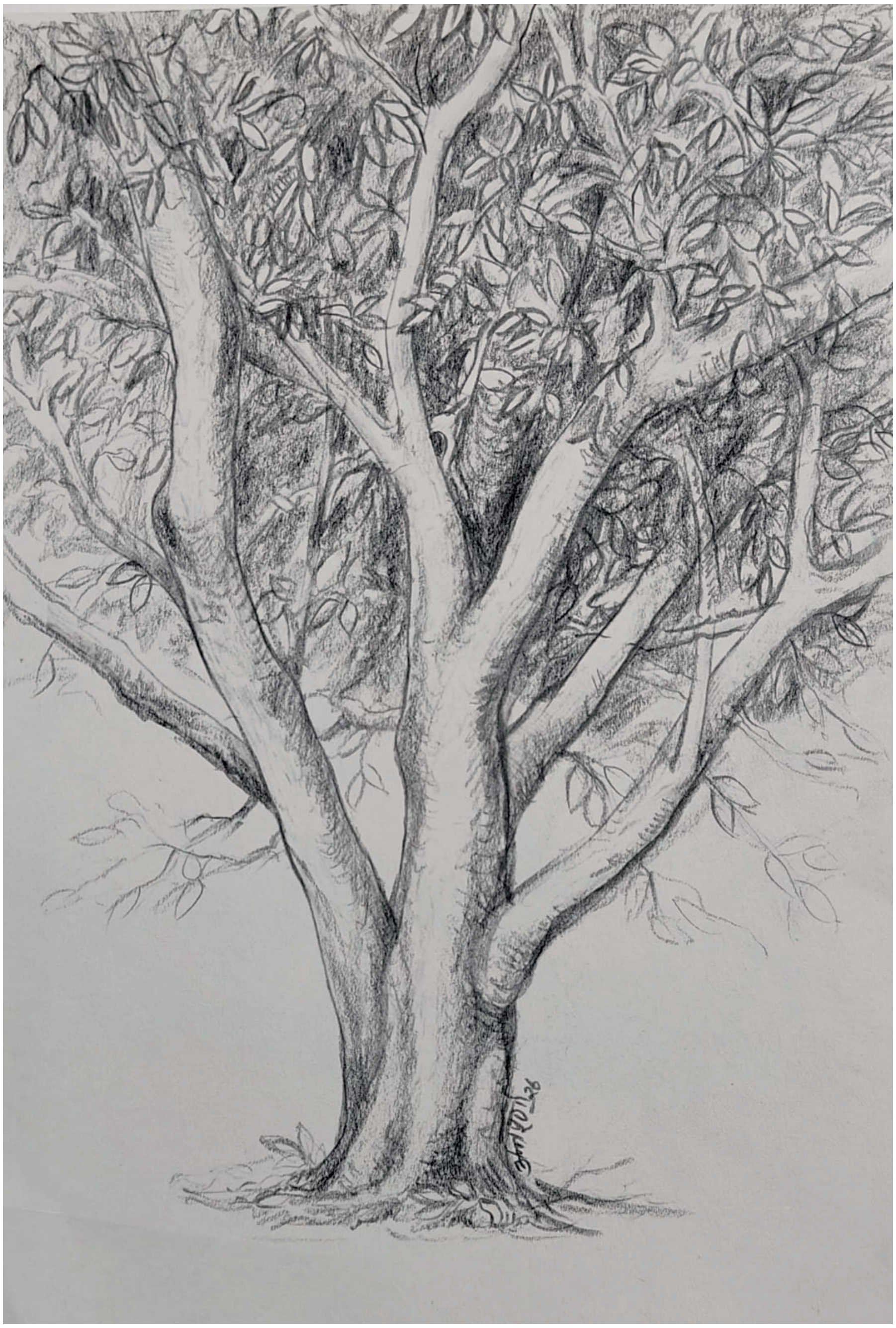

प्राचीन ऋषियों की याद हो आई, जिन्होंने ऐसी की किसी पावन तपोभूमि पर और प्रकृति के ऐसे ही पवित्र सानिध्य में अपने जीवन को बिताया था। यह सोचना कितना विहंगम है कि ऐसी अद्भुत तपोभूमि पर, पेड़ों की ऐसी ही शीतल छांव में बैठकर हमारे ऋषियों ने ब्रह्मांड की ऊर्जा को महसूस किया था और प्रकृति की गोद में बैठ कर मानव सभ्यता की सबसे पहली पुस्तकें – हमारे पवित्र 'वेद' लिखे गए थे। वेदों की ऋचाओं में बहने वाला ज्ञान और कुछ नहीं, बल्कि इसी बहती हवा, इन पेड़ों की सरसराहट और प्रकृति के साथ ऋषियों के गहरे संवाद की ही गूंज है। ऐसा लगा कि हमारे ऋषियों के तपोवन कोई काल्पनिक कहानी या सिर्फ इतिहास के पुराने पन्ने नहीं थे, बल्कि ऐसी ही ठंडी हवा, चिड़ियों की चहचहाहट और घने बुजुर्ग पेड़ों के बीच महसूस किया जाने वाला एक साक्षात् और जीवंत सच था, जिसे आज हम भूल चुके हैं।

उस तपोभूमि जैसे अलौकिक माहौल में एक और बेहद मर्मस्पर्शी दृश्य देखने को मिला। वहां मौजूद लोगों के बीच जो आपसी बातचीत हो रही थी, वह कोई औपचारिक संवाद नहीं था, बल्कि वे प्रकृति की आत्मा से जुड़े सहज और आत्मीय उद्गार थे। उनकी बातें सीधे अंतरमन से फूट रही थीं और सुनने वाले को जीवन को देखने का एक बिल्कुल नया, करुणामयी नज़रिया दे रही थीं। वहां साक्षात् दिख रहा था कि हर मनुष्य अपनी-अपनी चेतना, अपने सामर्थ्य और अपने जीवन के आंगन के हिसाब से प्रकृति के इस अनंत ऐश्वर्य को निहार रहा था। जिसे अपनी ज़िंदगी के दायरे में जितना भी स्थान मिल पा रहा था, वह उसी के भीतर प्रकृति के इन शाश्वत नियमों और उसके मूल संस्कारों को बहुत ही सहज भाव से सहेजने में लगा था। कोई मिट्टी को सहलाकर उसमें जीवन बो रहा था, तो कोई मौन रहकर इस निस्वार्थ व्यवस्था के प्रति नतमस्तक था। उस पूरे परिवेश में यह देखना मन को गहरे संतोष से भर रहा था कि हर हृदय अपने-अपने अनूठे तरीके से इस धरती की सनातन व्यवस्था से एकाकार हो रहा था।

यह जादुई अनुभव हमें प्रकृति का एक बहुत बड़ा, उदार और वैज्ञानिक नियम भी सिखाता है। विज्ञान भी इस बात को पूरी तरह स्वीकार करता है कि इतने पुराने और विशाल पेड़ केवल कार्बन डाइऑक्साइड ही नहीं सोखते, बल्कि वे अपने पत्तों से पानी की सूक्ष्म बूंदें हवा में छोड़ते हैं, जिससे आस-पास का तापमान कई

डिग्री तक कम हो जाता है और हवा पूरी तरह शुद्ध और प्राणवायु से भर जाती है। यह इस सजीव प्रकृति का वह अनोखा और निस्वार्थ नियम है कि जब हम उसे श्रद्धापूर्वक सहेजते हैं या उसे एक छोटा सा पौधा देकर उसका ख्याल रखते हैं, तो वह बदले में हमें हजार गुना ज्यादा करके ठंडी हवा, मीठे फल, सुरक्षित छांव और जीवन की सांसें लौटाती है।

जामुन के उन चालीस साल पुराने पेड़ों की उस अद्भुत और शीतल छांव में बिताया वह कीमती समय वहां मौजूद हर इंसान को यह याद दिला गया कि यदि हम प्रकृति को थोड़ा सा भी प्यार, सुरक्षा और सम्मान दें, तो वह एक मां की तरह अपनी बाहें फैलाकर हमारी सारी थकान, हमारी सारी चिंताएं और हमारे सारे दुख दूर करने के लिए हमेशा तैयार खड़ी रहती है। जब तक हमारे भीतर इन बुजुर्ग पेड़ों के प्रति यह सजीव और सम्मान भरी दृष्टि रहेगी, और जब तक हमारे आपसी संवादों में प्रकृति को सहेजने का यह नजरिया रहेगा, तब तक हमारे भीतर की करुणा भी जिंदा रहेगी और वेदों का वह प्राचीन ज्ञान भी हमारे दिलों में सांस लेता रहेगा।

अंत में मैं यह स्पष्ट कर दूं कि यह पूरा संस्मरण प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर के तपोभूमि जैसे प्रांगण का है जिस स्थान पर 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस पर अनौपचारिक चर्चा हुई थी। साथ के जामुन के पेड़ का रेखांकन भी उसी जगह का है।❑

शायर बशीर बद्र नहीं रहे

उर्दू शायरी को आसान और बोलचाल की भाषा में नई पहचान देने वाले मशहूर शायर बशीर बद्र का लंबी बीमारी के बाद 28 मई को भोपाल में निधन हो गया। वे 91 वर्ष के थे। वे उन शायरों में रहे, जिनके शेर साहित्यिक महफ़िलों से निकलकर आम लोगों की ज़बान तक पहुंचे।

उनके निधन के बाद उनका एक शेर बार-बार याद किया जा रहा है, और जो उनके घर के बाहर भी तख़्ती पर लिखा हुआ है वह है उजाले अपनी यादों के हमारे साथ रहने दो, न जाने किस गली में ज़िंदगी की शाम हो जाए। वे पिछले कई सालों से डिमेंशिया (स्मृतिलोप) बीमारी से जूझ रहे थे।

उनका जन्म 1935 में हुआ था। प्रमाणपत्रों में जन्म कानपुर में होना दर्ज है लेकिन परिजन बताते हैं कि बशीर बद्र का जन्म उत्तर प्रदेश के मौजूदा आंबेडकर नगर ज़िले के बुकियां गांव में हुआ था। उन्होंने 1969 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की पढ़ाई पूरी की। बाद में उन्होंने आजादी के बाद उर्दू ग़ज़ल का तनक़ीदी मुताला विषय पर पीएचडी भी की, जिसे आज भी कई जगह पढ़ाया जाता है।साहित्य जगत में 1970 और 1980 के दशक को उनके रचनात्मक जीवन का सबसे अहम दौर माना जाता है. इसी दौरान उनकी शायरी ने देश और विदेश में पहचान बनाई।❑

अनुभव

पढ़ाने के ज़रिए लोगों की ज़िंदगी को छूना

❑

पंजाब विश्वविद्यालय के पूर्व लाइब्रेरियन का यह आलेख शिक्षण के आनंद और संतोष की कहानी कहता हैं। सं.

❑

वी. के. आनंद

एक लाइब्रेरियन के तौर पर अपने करियर के दौरान, मैंने लगभग तीन दशकों तक मास्टर स्तर पर लाइब्रेरी मैनेजमेंट और ऑटोमेशन पढ़ाया - दोनों ही तरीकों से: रेगुलर क्लासरूम में आमने-सामने और डिस्टेंस एजुकेशन मोड के ज़रिए भी। एक टीचर के तौर पर, मेरे कुछ अनुभव तो आम थे, लेकिन कुछ अनुभव ऐसे भी थे जिन्होंने मेरे दिल को गहराई से छू लिया।

उन सालों में, मुझे अपने छात्रों को बहुत करीब से देखने-समझने की आदत पड़ गई थी। एक टीचर के लिए, इससे बड़ा इनाम और कोई नहीं हो सकता कि वह अपने छात्रों के चेहरों पर समझ और संतुष्टि का भाव देखे। ऐसे पल बिना कुछ कहे ही इस बात की पुष्टि कर देते हैं कि हमारी बातचीत सफल रही है।

एक खास घटना मुझे आज भी याद है। जब मैं 'बैचलर ऑफ़ लाइब्रेरी एंड इन्फॉर्मेशन साइंस' के स्टूडेंट्स को पढ़ा रहा था, तो मैं यह देखकर हैरान रह गया कि एक 70 साल के बुज़ुर्ग मेरे लेक्चर को बड़े ही ध्यान और एकाग्रता से सुन रहे थे। क्लास खत्म होने के बाद, मैं उनके पास गया और पूछा, सर, क्या आप भी इस कोर्स के स्टूडेंट हैं?

उनकी आँखों में आंसू आ गए। एक शांत, लेकिन भरी हुई आवाज़ में उन्होंने जवाब दिया, मेरे पास पॉलिटिकल साइंस में मास्टर डिग्री है और मैं लुधियाना के एक जाने-माने मेडिकल कॉलेज से जुड़ा हुआ हूं।

वह थोड़ी देर रुके, फिर आगे बोले, मेरी बेटी, जो सुन और बोल नहीं सकती, उसी कॉलेज की लाइब्रेरी में टाइपिस्ट का काम करती है। वह ग्रेजुएट है और उसने डिस्टेंस एजुकेशन के ज़रिए लाइब्रेरी साइंस कोर्स में एडमिशन लिया है। थ्योरी वाला हिस्सा तो वह ठीक-ठाक समझ लेती है, लेकिन प्रैक्टिकल वाले हिस्से में उसे दिक्कत आती है, क्योंकि वह क्लासरूम में दिए जाने वाले निर्देशों को समझ नहीं पाती।

उन्होंने कहा, इसलिए, मैं हर शनिवार और रविवार को लुधियाना से चंडीगढ़ आता हूं, इन क्लासों में शामिल होता हूं, प्रैक्टिकल पहलुओं को खुद समझने की कोशिश करता हूं, और फिर वापस जाकर अपनी बेटी को साइन लैंग्वेज (इशारों की भाषा) में, जितना हो सके, समझाने की कोशिश करता हूं।

मैंने धीरे से उनके कंधे पर हाथ रखा और कहा, सर, अब से आपको इन क्लासों में आने की ज़रूरत नहीं है। इसके बजाय, आप अपनी बेटी के साथ पंजाब यूनिवर्सिटी कैंपस में मेरे घर आ सकते हैं; मैं खुद उसे गाइड करूंगा।

इसके बाद, समर्पण और इंसानियत के रिश्तों का एक अद्भुत सफ़र शुरू हुआ। तीन महीने से भी ज़्यादा समय तक, पिता-बेटी की वह जोड़ी नियमित रूप से मेरे घर आती रही। हम डाइनिंग टेबल पर लगभग तीन घंटे साथ बैठते थे - दो घंटे लंच से पहले और एक घंटा लंच के बाद - और कोर्स के प्रैक्टिकल पहलुओं पर ही अपना पूरा ध्यान लगाते थे। उनसे ठीक से बातचीत करने के लिए, मैंने साइन लैंग्वेज की बुनियादी बातें सीखने की भी कोशिश की।

उन महीनों में, एक समर्पित पिता (जो अब दुनिया में नहीं हैं) के सहयोग से मैंने जो शांत सेवा की थी, वह मेरी यादों में आज भी ताज़ा है। उस अनुभव से मुझे जो तृप्ति और संतोष मिला, वह मुझे यह कोमल एहसास दिलाता है कि शिक्षण का मूल सार केवल ज्ञान देना ही नहीं, बल्कि लोगों के जीवन को छूना है।❑

अभिमत

शिक्षा का बजट परिणाम आधारित होना जरूरी

❑

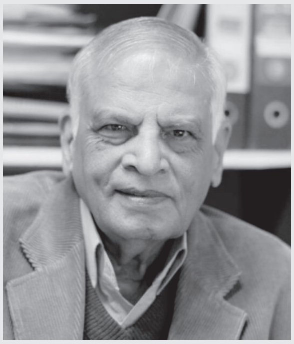

❑

के. बी. कोठारी

यूनिसेफ के पूर्व नीति–नियोजक शिक्षा नीति को इनपुट–आधारित बजटिंग से हटकर परिणाम–आधारित जवाबदेही की ओर बढ़ाने का सुझाव दे रहे हैं। सं.

राजस्थान के 2025-26 के बजट में रणनीतिक निवेश और व्यवस्थित सुधार के लिये प्रदेश की 400 स्कूलों को उन्नत करने के वास्ते एक हजार करोड़ रूपयों की राशि रखी गई है। ऐसी प्रोन्नत स्कूलें 'सीएम–राइज़' कहलाएंगी। लेकिन राज्य के इस नवोन्मेषी हस्तक्षेप की सफलता का मूल्यांकन केवल पूंजीगत व्यय के रूप में ही नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि सार्वजनिक शिक्षा में एक प्रणालीगत सुधार के रूप में किया जाना चाहिए।

लगभग 2.5 करोड़ रुपये प्रति स्कूल की दर से, यह प्रावधान बुनियादी ढांचे को मज़बूत करने के लिए काफ़ी गुंजाइश देता है - जैसे स्मार्ट क्लासरूम बनाना, स्टेम (विज्ञान, प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग और गणित) लैब, डिजिटल एकीकरण, लाइब्रेरी और बेहतर सुविधाएं तैयार करना।

मगर असली बदलाव शिक्षकों की क्षमता–निर्माण, स्कूल नेतृत्व की गुणवत्ता, शासन सुधारों और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अनुरूप योग्यता–आधारित शिक्षण पद्धति पर निर्भर करेगा।

वैश्विक विकास का अनुभव यह दर्शाता है कि सीखने के परिणामों के लिए बुनियादी ढांचा एक सहायक शर्त है, न कि उसका मुख्य निर्धारक।

मैं शासन की इस पहल को समता और निरंतरता के दृष्टिकोण से देखता हूं। मेरी राय में 400 स्कूलों को अपग्रेड करने से उत्कृष्टता के अलग–थलग द्वीप नहीं बन जाने चाहिए। इसके बजाय, 'सीएम–राइज़' स्कूलों को हब एंड स्पोक मॉडल के तहत मेंटरिंग हब के रूप में काम करना चाहिए, और उन्हें क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने के लिए अपने बेहतरीन शैक्षणिक तरीके और डिजिटल संसाधन आस–पास के स्कूलों के साथ साझा करने चाहिए। इसके लिये विश्वसनीयता और प्रभाव के लिए जवाबदेही जरूरी है।

इस नये सुधार के लिए मज़बूत जवाबदेही तंत्र की ज़रूरत है। तभी पारदर्शिता, प्रदर्शन और जनता का भरोसा सुनिश्चित किया जा सकेगा।

इसके लिये स्कूलों का चयन पारदर्शी तरीके से होना चाहिए। इसके अलावा काम को मापने योग्य संकेतक बनाने होंगे। साथ ही शिक्षा के लिए एकीकृत जिला सूचना प्रणाली तथा डेटा के ज़रिए रीयल–टाइम निगरानी रखनी पड़ेगी। इन स्कूलों की तीसरे पक्ष द्वारा शैक्षणिक ऑडिट और समुदाय की भागीदारी सुनिश्चित करना भी जरूरी होगा।

असल में हमें शिक्षा नीति को इनपुट–आधारित बजटिंग से हटकर परिणाम–आधारित जवाबदेही की ओर बढ़ाना होगा।

नई पहल के संभावित प्रभाव मानव पूंजी निर्माण में होने चाहिए। इसके लिये बुनियादी साक्षरता और अंकज्ञान को सुदृढ़ करना होगा, स्कूल छोड़ने की दर को नीचे लाना होगा, और माध्यमिक स्तर पर छात्रों के स्कूल में बने रहने की दर में सुधार करना होगा - विशेष रूप से लड़कियों के लिए। 21वीं सदी के कौशलों के माध्यम से रोज़गार–योग्यता को बढ़ाना भी अत्यंत महत्वपूर्ण होगा।

यह सब सीधे तौर पर मानव पूंजी निर्माण में योगदान देता है और वह सतत विकास लक्ष्य 4 (गुणवत्तापूर्ण शिक्षा) के अनुरूप है। ❑

पुरातत्वविद् शिरीन रत्नागर का निधन

प्रमुख भारतीय पुरातत्वविद् शिरीन रत्नागर का 26 मई को संक्षिप्त बीमारी के बाद मुंबई में निधन हो गया। वे 82 वर्ष की थीं। सिंधु घाटी सभ्यता (हड़प्पा सभ्यता) के अध्ययन में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। वे इस प्राचीन सभ्यता के व्यापार संबंधों, राजनीतिक संरचना, पतन के कारणों और सांस्कृतिक पहलुओं को गहराई से समझने वाली विद्वान के रूप में जानी जाती हैं। उनके कार्यों ने भारतीय इतिहास की समझ को समृद्ध किया, खासकर कांस्य युग की सभ्यता के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप को स्पष्ट करने में।

उनका जन्म 1944 में मुंबई में हुआ था। उन्होंने डेक्कन कॉलेज, पुणे से शिक्षा प्राप्त की और यूनिवर्सिटी कॉलेज लंदन में मेसोपोटामिया पुरातत्व का अध्ययन किया। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज में प्रोफेसर के रूप में उन्होंने लंबे समय तक पढ़ाया

और 2000 में सेवानिवृत्ति के बाद मुंबई में स्वतंत्र शोधकर्ता के रूप में कार्यरत रहीं।उनकी पुस्तकों ने सिंधु सभ्यता को मेसोपोटामिया और अन्य समकालीन सभ्यताओं के साथ तुलनात्मक रूप से समझने का नया आयाम दिया।

शिरीन ने अन्य किताबों के अलावा 'एनकाउंटर्स: द वेस्टर्ली ट्रेड ऑफ द हड़प्पा सिविलाइजेशन' (1981) तथा 'अंडरस्टैंडिंग हड़प्पा: सिविलाइजेशन ऑफ द इंडस' (2001) भी लिखी।❑

RS-CIT
एक परिपूर्ण कंप्यूटर कोर्स !

RS-CIT एक विस्तृत बेसिक कंप्यूटर कोर्स है जिसकी मदद से कंप्यूटर के आवश्य कौशल सीख कर कंप्यूटर पर कार्य करने में दक्षता हासिल की जा सकती है एवं विभिन्न डिजिटल सुविधाओं के उपयोग के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है

RS-CIT कंप्यूटर कोर्स ही क्यों ?

ई-लर्निंग पर आधारित, ऑडियो-विडियो कंटेंट तथा चरणबद्ध असेसमेंट
राज्य सरकार की विभिन्न सरकारी नौकरियों में एक पात्रता ।
शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 6500 ज्ञान केंद्र ।
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय कोटा द्वारा परीक्षा एवं प्रमाण पत्र ।

अन्य कोर्सेज

- Financial Accounting
- Spoken English & Personality Development
- Desktop Publishing
- Digital Marketing
- Advanced Excel
- Cyber Security
- Business Correspondence

Rajasthan Knowledge Corporation Limited
IT shapes future
(A Public Limited Company Promoted by Govt. of Rajasthan)

नजदीकी ज्ञान केंद्र के लिए www.rkcl.in पर विजिट करें
या 9571237334 पर WhatsApp करें

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा क्लासीफाइड प्रिण्टर्स, जयपुर में मुद्रित तथा
7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-302004 से प्रकाशित। संपादक- राजेन्द्र बोड़ा

अनौपचारिका: पृष्ठ-28, जुलाई, 2026 रजिस्ट्रार ऑव न्यूज पेपर, नयी दिल्ली के द्वारा पंजीकृत मासिक पत्रिका RNI 43602/77 ISSN No.2581-981x

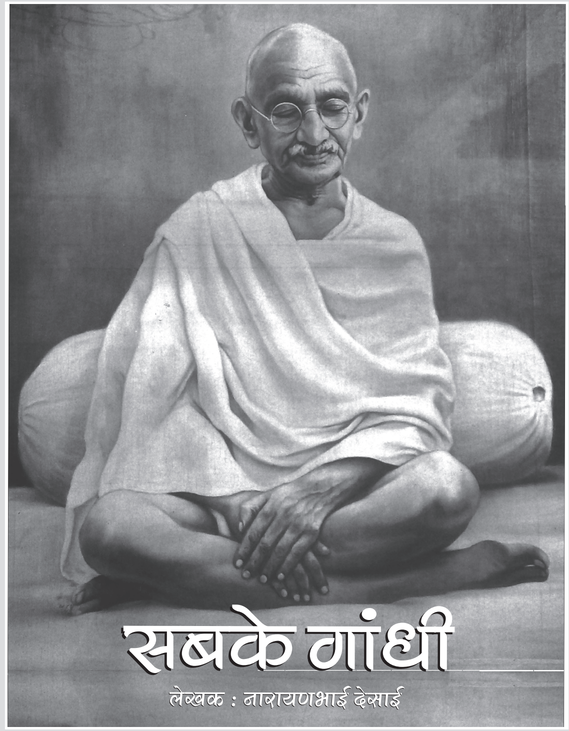

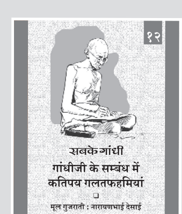

सहयोग राशि के लिए
बैंक विवरण

BANK OF BARODA
Rajasthan Adult Education Association
Branch Name : IDS Ext. Jhalana Jaipur
I.F.S.C. Code : BARB0EXTNEH
(Fifth Character is zero)
Micr Code : 302012030
Acct.No. : 98150100002077

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7—ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर—302004

सबके गांधी

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति
7—ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर—302004

12 पुस्तकों के एक सैट की सहयोग राशि रुपये 500/– मात्र डाक खर्च रुपये 75/– अलग से देय होगा।